यदि आप अभी तक इस सिरीज़ के ग्राहक नहीं बने हैं, तो ग्राहक बनने में शीघ्रता कीजिए; या पुस्तक के पृष्ठभाग पर दी हुई सूची में से अपनी पसंद की पुस्तकें चुनकर अपने स्थानीय पुस्तक-एजेंट से लीजिए।

सरस्वती-सिरीज़ नं० ४

पृथ्वी का इतिहास

सुरेन्द्र बालूपुरी
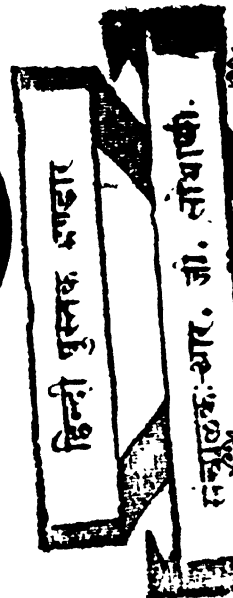
प्रकाशक
इंडियन प्रेस लिमिटेड
प्रयाग

दो शब्द

'पृथ्वी का इतिहास' पाठकों के हाथ में है। 'दो शब्द' लिखकर परिपाटी निभाने की इच्छा न रखते हुए भी, लगता है, इस पुस्तक के बारे में कुछ कहना एक अनिवार्य आवश्यकता है।

पहली बात यह कि 'पृथ्वी का इतिहास' लिख सकने भर की तैयारी मेरी न होते हुए भी, मैं इस पुस्तक का लेखक हूँ। इतिहास में मौलिकता का अर्थ होता है कम से कम पूरी एक उमर उसकी तैयारी में, अध्ययन और खोज में, बिताकर तब कुछ लिखने बैठना। प्रत्यक्ष ही है कि ऐसा शताब्दियों में कुछ गिने-चुने लोग ही कर पाते हैं। सो इतनी पूँजी न होते हुए भी इतिहास का, ऐतिहासिक शक्तियों का, और उनकी रोशनी में बनते हुए नये इतिहास का एक जागरूक विद्यार्थी मैं रहा हूँ। इस पुस्तक में मेरा श्रम इतना ही है कि इतिहास की मान्य घटनाओं तथा नवीनतम खोजों से प्राप्त तथ्यों को यहाँ-वहाँ से पढ़कर मैंने एकत्र संकलित कर दिया है।

घटनाओं की व्याख्या (Interpretation) का जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ तक मैं डार्विन-द्वारा निर्देशित 'विकासवाद' (Theory of Evolution) और मार्क्स-द्वारा प्रतिपादित 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' (Economic Interpretation of History) का हिमायती हूँ; और यही प्रणालियाँ इस पुस्तक में मैंने बर्ती हैं।

एक सफ़ाई भाषा के बारे में भी—पहले दो-तीन प्रकरणों की भाषा साधारण से कुछ अधिक दुरूह हो गई है, क्योंकि उनमें लगभग वैज्ञानिक

विषयों का विवेचन किया गया है। वैज्ञानिक विषयों के लिखने में चलती भाषा का प्रयोग कर सकना असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुष्कर तो है ही।

अन्त में उन पुस्तकों के लेखकों के प्रति आभार प्रदर्शित करना भी अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनसे इस पुस्तक के तैयार करने में सहायता मिली है। पुस्तकें लेखकों के नाम के साथ ये हैं—

१—'ग्लिम्प्सेज़ ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री' (अँगरेज़ी, दो भाग) पं० जवाहरलाल नेहरू।

२—'दि आउट लाइन ऑफ़ हिस्ट्री' (अँगरेज़ी)—एच० जी० वेल्स।

३—'ए ब्रीफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री' (अँगरेज़ी)—डेविट।

४—'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' (हिन्दी)—श्री जयचन्द्र विद्यालंकार।

५—'पृथिवीर इतिहास' (बँगला)—श्री गजेन्द्रकुमार मित्र।

६—'टाइम्स' के 'हिस्टोरियन्स हिस्ट्री ऑफ़ दि वर्ल्ड' के २५ खंड (अँगरेज़ी), आदि।

इतना और निवेदन कर देना आवश्यक है कि पृष्ठ १५५ के तीसरे पैरे की तीसरी पंक्ति में 'उत्तरी अफ़्रीक़ा' के स्थान पर भूल से 'उत्तरी अमरीका' छप गया है। कृपया पाठक सुधार लें।

४८, जार्ज टाउन
इलाहाबाद

सुरेन्द्र बालूपुरी

पृथ्वी का इतिहास

अनुक्रमणिका

छठा प्रकरण

सातवाँ प्रकरण

आठवाँ प्रकरण

नवाँ प्रकरण

दसवाँ प्रकरण

ग्यारहवाँ प्रकरण

पहला प्रकरण

पृथ्वी का जन्म

पृथ्वी की जीवन-गाथा की आलोचना करने के पूर्व एक बार उसके सजातियों की ओर देखा जाय। हमारे पूर्व-पुरुषों का पहले यह विश्वास था कि यह पृथ्वी ही संसार है। इसके ऊपर एक स्वर्ग है और इसके नीचे है एक नरक अथवा पाताल या इसी प्रकार की कोई अन्य चीज़। तत्पश्चात् ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों मनुष्य यह समझ सकने में समर्थ होता गया कि आकाश में अन्धकार के भीतर ये जो तारागण झिलमिल करते रहते हैं, वे वास्तव में स्वर्ग के निम्न-स्तर में जटित हीरे-मोती नहीं हैं बल्कि वे कुछ और हैं जिनके साथ इस पृथ्वी का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ग्रह-नक्षत्रों के ज्ञान की बात प्राच्य में ही जन्मी और उसके बहुत दिनों बाद पाश्चात्य लोगों ने भी मान लिया कि इन ग्रह-नक्षत्रों के साथ मनुष्य-जीवन का योगायोग स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता। किन्तु फिर भी अभी उस दिन तक मनुष्य की धारणा थी कि इस विश्व-सृष्टि में सबसे बहुमूल्य कृत्य यह पृथ्वी ही है, एवं इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब इस नरलोक के प्रयोजन के लिए ही भगवान् ने बाध्य होकर सृजन किया है।

किन्तु क्रमशः मनुष्य की आँखें खुलीं। साधारण दृष्टि हमें बहुत दूर तक नहीं पहुँचाती; यह देखकर मनुष्य ने यान्त्रिक दृष्टि की रचना करके सुदूर आकाश में आँखें फैलाईं। तदनन्तर धीरे-धीरे वह जान सका कि 'अनन्त' कहकर मन में जितनी बड़ी वस्तु की धारणा हम कर पाते हैं उससे कहीं अधिक बड़ा यह विश्व-ब्रह्माण्ड है! और उसके भीतर यदि सबसे हीन नहीं, तो भी अत्यन्त अकिञ्चन है यह पृथ्वी। ये अत्यन्त छोटे-

छोटे तारे जो हम आकाश में देख पाते हैं, और जो हीरे की एक छोटी अँगूठी के नगीने से भी छोटे प्रतीत होते हैं, वैसे एक-एक नक्षत्रों के गर्भ में हमारी पृथ्वी जैसी कोटि-कोटि पृथ्वी अनायास ही समा जायगी और तब भी पर्याप्त स्थान वहाँ शेष रह जायगा। फिर कितने ऐसे नक्षत्र आकाश-मण्डल में स्थित हैं, इसका हिसाब आज भी मनुष्य नहीं लगा पाया है। हमारे अंकगणित में गिनने की जो अन्तिम संख्या निर्धारित है, उससे कहीं अधिक उनकी संख्या होगी।

किन्तु ये अगणित नक्षत्र एक स्थान पर स्थिर होकर नहीं रहते, वे सदा चलते-फिरते रहते हैं। तब प्रश्न हो सकता है, वे आपस में टकराते क्यों नहीं? इसका एकमात्र सहज कारण यह है कि इन सभी नक्षत्रों के बीच असीम शून्य का व्यवधान है; एक-एक के बीच इतनी अधिक दूरी है कि उनके आपस में टकराने की कोई आशा नहीं है। यद्यपि अपनी आँखों से हम यही देखते हैं कि वे प्रायः एक दूसरे से सटे हुए हैं; किन्तु इन तारों के बीच कोटि-कोटि योजनों का अन्तर है। ये तारे हम लोगों से क्या कम दूरी पर स्थित हैं? इनमें कोई कोई तारे हमसे इतनी दूरी पर हैं कि पृथ्वी तक उनके प्रकाश के पहुँचने में कई लाखों वर्ष का समय लग जाता है। इसको यों समझा जा सकता है कि यदि आज उन तारों का प्रकाश बुझ जाय और वे कृष्णवर्ण हिमशीतल पदार्थ में परिणत हो जायँ तो हमें इस घटना का ज्ञान कई लाखों वर्ष बाद होगा।

हमारा सूर्य भी इन्हीं का एक सजातीय है, ऐसा ही एक नक्षत्र। यह बहुत बड़ी श्रेणी का नहीं, बल्कि मध्यम श्रेणी का नक्षत्र है। किन्तु सूर्य के चारों ओर जिस प्रकार हमारी पृथ्वी की भाँति अनेक ग्रह घूमते-फिरते रहते हैं, ऐसा सौभाग्य अधिकांश नक्षत्रों का नहीं है। इस दृष्टि से बहुत बड़े नक्षत्रों से भी सूर्य अधिक सौभाग्यशाली है। इसका भी कारण मोटे तौर पर देखा जाय तो यही है, जैसा कि हमने पहले कहा है, कि आकाश में इतना अधिक स्थान पड़ा हुआ है कि दो नक्षत्रों में टक्कर लगने अथवा उनके पास-पास आ जाने की सम्भावना अत्यन्त कम है। किन्तु कई करोड़ वर्षों के भीतर ऐसी घटना भी घटती है।

सूर्य की भी एक बार ऐसी ही दशा हुई थी; कोई और नक्षत्र, समझा जाता है, उसके आस-पास आ पड़ा था, जिसके फलस्वरूप सूर्य के भीतर एक तुमुल काण्ड हो गया। सूर्य एक ज्वलन्त अग्निपिण्ड है; किन्तु उसकी आग के साथ कुछ तरल पदार्थ भी है। चन्द्र-सूर्य के आकर्षण से जिस प्रकार पृथ्वी के समुद्र में ज्वार का संघर्षण आता है, उत्ताल तरंगें उठने लगती हैं, उसी तरह उस अज्ञात नक्षत्र के सूर्य के पास आ पड़ने के फलस्वरूप सूर्य के तरल अग्नि-समुद्र में भी ज्वार आ गया।

किन्तु चन्द्रमा का आकर्षण सूर्य के आकर्षण से भी अनेक गुना अधिक होता है, इस तरह एक नक्षत्र का आकर्षण एक तो होता नहीं है। सूर्य के भीतर के तरल पदार्थ में जो तरंगें उठीं, सच ही, वह साधारण बात तो हुई नहीं। वे तरंगें विराट् पर्वत के समान हो उठीं, एवं क्रमशः ऊँची होते होते उनके शीर्ष इतने भारी हो उठे कि उससे जाने कितने टुकड़े टूट कर आकाश के अंक में आ पड़े। समुद्र की धारा में जाने पर ये दृश्य हमारी आँखों के सामने अकसर आते हैं। बड़ी तरंगों के भंग होते समय, बड़ी बड़ी जल की बूँदें छिटक पड़ती हैं, एवं उनके लिए पृथ्वी का आकर्षण आकाश के आकर्षण से अधिक होने के कारण, वे फिर सागर के गर्भ में आकर तीव्र गति से घुस जाती हैं।

सूर्य की तरंगों में से भी जो सब तरल अग्निकण आकाश की छाती पर छिटक पड़े थे, वे अन्य किसी नक्षत्र के आकर्षण से दूर नहीं जा सके, क्योंकि जिस नक्षत्र के सूर्य के पास आने से उनका जन्म हुआ था, वह भी तब तक पीछे हटने लग गया था। किन्तु स्थिर रहने का भी उपाय न होने से उन्होंने अपने जनक सूर्य के ही चारों ओर घूमना प्रारम्भ कर दिया। उस नक्षत्र के थोड़ा और पास आने से दो नक्षत्रों में टक्कर लगकर एक प्रलयकाण्ड की सृष्टि हो जाती; किन्तु यह सब घटित होने के पूर्व ही, आगन्तुक नक्षत्र की गति परिवर्तित हो गई और वह फिर महाशून्य के पार चला गया।

ये जो अग्निकण थे, वे ही ग्रह हुए। सूर्य की तुलना में तरंग-विन्दु होने पर भी इन ग्रहों की असाधारणता पृथ्वी की विशालता से समझी जा सकती है, क्योंकि हमारी पृथ्वी सौर-मंडल में बहुतों से छोटी है। किन्तु

बड़े हों या छोटे अन्य ग्रह हमारी आलोचना के विषय नहीं हैं। इस अति सामान्य ग्रह, पृथ्वी की बातें जानने के लिए ही बहुत बड़ी पोथी की आवश्यकता है। हमारी पृथ्वी के पास ही और एक स्थलपिण्ड है जिसके साथ पृथ्वी की सबसे अधिक घनिष्ठता है। वह है चन्द्र। पता नहीं यह भी सूर्य से ही फूट पड़ा क्षुद्रतम विन्दु है अथवा जन्म के समय इस पृथ्वीवाले तरल अग्नि-स्रोत से ही छिटक पड़ा था; किन्तु उसमें का ताप बहुत दिनों से बुझ गया है, यह हम लोग अनायास ही समझ सकते हैं। किन्तु निर्जीव होकर भी चन्द्रमा शान्त नहीं है, पृथ्वी और सूर्य दोनों के आकर्षण के बीच पड़कर उसे दिन-रात पृथ्वी के ही चारों ओर चक्कर लगाते रहना होता है।

समय क्या है ?

जन्म के बाद से ही ग्रहों ने सूर्य के चारों ओर घूमना आरम्भ कर दिया, यह हम पहले ही बतला चुके हैं; किन्तु उस घूमने में एक और विशेषता है। ग्रहों में एक दूसरे के प्रति भी आकर्षण कम न होने से उनकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। वे भी अनवरत गति से अपने चारों ओर घूमते रहते हैं, साथ ही उन्हें सूर्य की प्रदक्षिणा भी करनी होती है। अर्थात् महाशून्य में कितने ही गेंद की शकल के पदार्थ अपने ही चारों ओर चक्कर खाते खाते तीर की गति-से दौड़ते रहते हैं। पृथ्वी भी इस श्रम से बरी नहीं है, उसका भी तब से आज तक इन कोटि-कोटि वर्षों में अनवरत उसी ढंग से दौड़ना हुआ है। हम लोगों की यह जो दिन और रात की व्यवस्था है, वह भी इस घूमने ही के कारण है। पृथ्वी का आकार प्रायः गोला ही है, इसके विपरीत इस सिरे या उस सिरे पर जितना कुछ है वह नगण्य-सा है। यह गोलाकार पदार्थ जन्म के समय सूर्य के समान ही ज्वलन्त था; किन्तु आज उसकी अग्नि पूर्णतः बुझ गई है, आज वह जितना कुछ भी प्रकाश और ताप प्राप्त करता है वह सूर्य के कोष से ही। यह गोलाकार पदार्थ जब अपने चारों ओर चक्कर खाता है तब उसका जो भाग सूर्य की ओर रहता है उस भाग में सूर्य की प्रचण्ड वह्नि-ज्वाला का आलोक और ताप आकर लगता है, उसे ही हम कहते

हैं दिन, एवं दूसरे भाग के अन्धकार को हमने नाम दिया है रात्रि। पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती रहती है, जिससे हमें प्रतीत होता है कि सूर्य ही पूर्व से पश्चिम की ओर चलता रहता है। पृथ्वी के किसी एक स्थान पर सूर्य से हमारे प्रथम साक्षात्कार की वेला से लेकर दुबारा साक्षात्कार होने तक के बीचवाले समय को—अर्थात् जितनी देर में पृथ्वी अपने वृत्त पर एक बार पूरी चक्कर काट ले उतने समय को—हम कहते हैं एक दिन एवं सूर्य के चारों ओर एक बार प्रदक्षिणा करने के समस्त समय को कहा जाता है एक वर्ष। मिनट, घंटा, दण्ड, पहर इत्यादि हमने समय के विभाग कर लिये हैं अवश्य; किन्तु यह सारी गणना उत्पन्न हुई है इसी सूर्य-प्रदक्षिणा की क्रिया से; क्योंकि उन सबके मूल में इसी वर्ष और दिन की व्यवस्था है।

एवं इस क्रिया के साथ हमारी वर्तमान जलवायु का योग भी कम नहीं है। जिस प्रकार थोड़ी देर तक चक्कर खाने के बाद सर घूमने के कारण मनुष्य के पैर अव्यवस्थित ढंग से दाहिने-बायें पड़ने लगते हैं, पृथ्वी भी उसी प्रकार थोड़ा राह से डिग जाती है। फल यह होता है कि सूर्य का निकटतम विन्दु कभी भी पृथ्वी के एक ही भाग के सामने नहीं पड़ता। चलते चलते पृथ्वी का जो भाग जब कभी सूर्य के पास आ पड़ता है तब उसी भाग में अधिक गर्मी पड़ती है और दूसरे भाग में सर्दी पड़ती है। किन्तु इसकी भी एक निर्दिष्ट सीमा है। सूर्य की उत्तर दिशा में क्षण-भर को जाते जाते पृथ्वी दूसरी दिशा में ढुल जाती है, तब उसके दक्षिण में गर्मी बढ़ जाती है अर्थात् उस भाग से सूर्य सबसे अधिक निकट पड़ता है। यह जो दक्षिण-उत्तर में सूर्य-रश्मियों की पहुँच की सीमा है, इसके आस-पास के स्थान को हम 'नातिशीतोष्णमण्डल' कहते हैं। इस भाग में रहना ही मनुष्य के लिए सबसे अधिक सुखद होता है। गर्मी-सर्दी आदि में परिवर्तन होने के बावजूद भी साधारणतया वायुमण्डल बहुत अच्छा रहता है। इसके परे जो भाग है उसे कहा जाता है—'हिममण्डल'। वहाँ के लोग सूर्य को कभी भी समीप नहीं पाते हैं जिससे उन्हें बारहों महीने कड़ी सर्दी और बर्फ़ के बीच रहना

होता है। और सूर्य की गति के सामने पड़नेवाला भाग भी, जिसका नाम ग्रीष्म-मण्डल है, बहुत बुरा स्थान है। वहाँ बारहों महीने गर्मी पड़ती है, क्योंकि सूर्य अधिक समय वहीं रहता है।

जल, स्थल और जीवन

पृथ्वी के जन्म के बाद से अनेकों वर्ष बीत चुके हैं। इन बीते वर्षों की ठीक ठीक संख्या निर्धारित करना तो कठिन है; किन्तु जहाँ तक हिसाब लगाकर देखा जाता है उससे अनुमान होता है कि २,००,००,००,००० वर्षों से कम न बीते होंगे। सम्भावना तो और भी अधिक की है, इतना अधिक कि कोई भी संख्या उपस्थित करके उसे समझाना कठिन है, समझना तो और भी कठिन। किन्तु ऐसा होने पर भी, मानव की आयु इतनी अधिक नहीं हुई। मनुष्य ने बहुत बाद को पृथ्वी पर जन्म लिया है। कहा जा सकता है कि वह पृथ्वी की वृद्धावस्था की सन्तान है। केवल मानव ही क्यों, किसी भी प्रकार के प्राणी या जीव को इस पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करने में बहुतेरे दिन, अनेकों वर्ष लगे हैं। इसका कारण है पृथ्वी के प्रारम्भिक जीवन की असह्य उष्णता।

पृथ्वी को आज हम जो देख रहे हैं, वह इन कोटि-कोटि वर्षों में घटित परिवर्तन का फल है। जन्म के प्रारम्भ में वह सूर्य की भाँति ही एक तरल अग्निमय पदार्थ का पिण्ड थी। उस अग्नि को बुझने में बहुत समय लगा। सहस्रशः वर्षों तक जलते जलते जब आग बुझी, तब जिस प्रकार गर्म दूध पर पपड़ी पड़ती है उसी प्रकार तरल अग्नि के ऊपर भी कड़े पत्थर जैसी पपड़ी पड़ी। एवं उस तरल पदार्थ का जलीय भाग जो इतने दिनों तक पृथ्वी के चारों तरफ़ भाप बनकर आकाश में जमा हुआ था, वह पृथ्वी के शीतल एवं कड़ी होने के साथ ही वृष्टि के रूप में पृथ्वी के उत्तप्त धरातल पर बरस पड़ा। उस वर्षा का पानी भी जो सम्भवतः गर्म झरने से झरते पानी की तरह गरम था, क्रमशः ठंडा हो आया। अग्नि के बुझने के समय, किन्हीं कारणों से, दूध की पपड़ी की भाँति ही पत्थर की पपड़ी भी नीची-ऊँची हो गई थी, फिर भी उसकी असमतलता दूध की पपड़ी की भाँति नियमित नहीं थी; बल्कि अत्यन्त

अस्त-व्यस्त और बेहिसाब ऊँची-नीची थी। उसी असमतल पत्थर के अत्यन्त ऊँचे स्थानों को आज हम पहाड़ कहते हैं। पृथ्वी की प्रक्रिया भी विराट् है, तभी उसके भीतर हिमालय जैसे ऊँचे पर्वत और अतल समुद्र की भाँति गहरे गड्ढे दोनों ही सम्भव हो सके हैं। इन ऊँचे पर्वतों की सृष्टि होने के साथ जीव-सृष्टि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका ही वर्णन आगे किया जायगा।

वृष्टि होनी जब प्रारम्भ हुई तब उसका पानी स्वभावतः पहाड़ के ऊपर भी पड़ा। पानी का अधोमुख वेग एक तो यों ही अत्यन्त तीव्र होता है, उस पर इतने ऊँचे से गिरने से पहाड़ पर जो वर्षा का पानी पड़ा, नीचे बहते समय उसने अपने भीषण वेग में चारों ओर के पत्थर को पीसकर धूल कर दिया और उस पत्थर की धूलि को साथ लिये नीचे आ गया। किन्तु नीचे आने के साथ ही साथ जब उसकी धारा का वेग कम हुआ तब पत्थर के वे पिसे हुए सूक्ष्म कण धारा के पथ में जमने लगे। यानी बीच-बीच में कीच जमने लगा। धीरे-धीरे कीच जमते-जमते उसी से समतल भूमि की सृष्टि हुई और इसी के गर्भ में एक एक करके जीवन के चिह्न भी दृष्टिगोचर हुए।

कीचड़ जमना आज भी बन्द नहीं हुआ है, तब भी उसकी मात्रा अवश्य कम हुई है, क्योंकि पहले जो भाप जमा हुई थी उसका परिमाण अत्यन्त अधिक था जिससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रथम युग में वृष्टि कितनी अधिक हुई होगी। किन्तु उस वृष्टि का जल आज पाँच महासागरों में स्थिर होकर पड़ा हुआ है और सूर्य की किरणों के ताप से उसमें से एक साधारण अंश भाप या बादल के रूप में आकाश में उड़ता रहता है। तब इसमें देखना यह है कि वृष्टि का सारा जल अब तो केवल पहाड़ों पर ही नहीं पड़ता, बहुतेरा समतल भूमि पर भी गिरता है। जो जल पहाड़ पर गिरता है वही नदी के रूप में पृथ्वी की गोद में लुढ़क आता है और अपने साथ, जो कुछ साधारण कीचड़ होता है, उसे भी लिये आता है।

प्रथम वृष्टि से प्रथम जीव के विकास तक की अवधि में इतने दिन बीते हैं कि उनकी संख्या सुनने पर आश्चर्य-चकित हो जाना होता है।

उस वृष्टि-धारा के प्रथम आविर्भाव के समय पृथ्वी को एक भीषण दुर्भाग्य के बीच दिन-रात काटना पड़ा। उस समय हममें से कोई उपस्थित होता तो देखता कि चीनसागर के टाइफोन से भी सहस्रगुनी भीषण धारा समस्त पृथ्वी के ऊपर से बहती जाती है, और वृष्टि--शिला-वृष्टि--की भीषणता की कल्पना आज के अत्यन्त दुर्भाग्य-मय दिनों में भी मनुष्य नहीं कर सकता। अग्नि के समान गरम हवा घंटे में हज़ार मील की गति से चारों ओर उन्मत्त की भाँति झकझोरती फिर रही है, उसके वेग में भयंकर भयंकर पत्थर वर्षा के झोंकों में तिनकों की तरह उड़ रहे हैं। मानो समस्त पृथ्वी में कोटि-कोटि दैत्यों का ताण्डव हो रहा है।

उसी पृथ्वी के शान्त होने पर जब मिट्टी के दर्शन हुए तब पृथ्वी के अङ्क में धीरे-धीरे प्रथम जीव साधारण कीड़े के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। बहुत दिनों से मिट्टी के नीचे दबकर नाना प्रकार के जल के स्पर्श अथवा अन्यान्य कारणों से जो सब वस्तुएँ फॉसिल (Fossil) या प्रस्तरीभूत पदार्थों में परिणत हो गई हैं उन्हें ही पृथ्वी खोदकर अथवा पर्वतों के ऊपर से खींच लाकर, उन्हीं में हम आदि पृथ्वी के रूप को देखने की चेष्टा करते हैं। इस उद्देश्य से पृथ्वी को खोदते खोदते सर्वप्रथम युग की जो सारी प्रस्तरीभूत अस्थियाँ हम देख सके हैं, वह केवल छोटे-छोटे सामुद्रिक कीड़ों की है। उस समय की सबसे बड़ी जो अस्थि देखने को मिली है वह पाँछ-छः हाथ लम्बे जल-बिच्छू की है। इसे छोड़कर तब के पृथ्वी-तल के किसी जीव की कौन कहे एक गुच्छा तृण-लता आदि के चिह्न भी नहीं पाये जाते।

तब भी यह जो पहाड़ के ऊपर से अथवा मिट्टी खोदकर फॉसिल खोजते-खोजते करोड़ों वर्ष पूर्व के इतिहास की रचना हो रही है इसमें एक बहुत बड़ा व्यवधान भी है। क्योंकि यदि ऐसा ही हो कि उस समय पृथ्वी पर कुछ ऐसे प्राणी या वस्तुएँ रही हों जो अस्थिहीन हों अथवा किसी तरह भी प्रस्तरीभूत होने योग्य न हों तो उनका ज्ञान हम लोग इस प्रणाली-द्वारा नहीं प्राप्त कर सकेंगे। ऐसे प्राणियों का उस समय होना एकदम असम्भव भी नहीं यह भी हम जानते हैं,

फिर भी निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। तब आज तक सोच-विचार कर वैज्ञानिकों ने जो कुछ अन्दाज़ा लगाया है उसे ही लेकर संतोष करने के अतिरिक्त हम और कर ही क्या सकते हैं ?

इसके अतिरिक्त पहले-पहल जीवन का संचार क्यों और किस प्रकार हुआ यह भी इन प्रस्तरीभूत अस्थियों से जान सकने का कोई उपाय नहीं है। बहुत संभव है वैज्ञानिकों के सामने वह एक आश्चर्यजनक चिररहस्य ही बना रह जाय। विभिन्न समयों में पृथ्वी के ऊपर विभिन्न प्रकार के प्राणियों ने जन्म धारण किया है, समय के परिवर्तन के साथ-साथ जीवों की आकृति-प्रकृति भी परिवर्तित हुई है, इतना हम समझ सकते हैं, किन्तु इसका भी कोई ठीक कारण नहीं जानते। फिर भी अपनी साधारण बुद्धि से हम इतना समझ सकते हैं कि प्राणियों के जीवन-युद्ध की आवश्यकताओं के अनुसार ही उनकी आकृति में भी परिवर्तन हुए हैं। अर्थात् स्थान-विशेष के जलवायु में जीवन-धारण और आत्म-रक्षा करने के लिए उन्हें जिन उपादानों के प्रयोजन हुए हैं वही उन्हें मिले हैं। प्रथम युग में समुद्र की सांघातिक उत्तालतरङ्गों में जिन प्राणियों ने जन्म लिया होगा उन्हें प्रतिपल के प्रबल आघात से अपनी रक्षा करने के लिए शरीर के ऊपर कठिन आवरण की आवश्यकता पड़ी होगी; इसी लिए प्रथम युग में जिन समुद्री जीवों का उल्लेख किया गया है, उनमें घोंघे और कौड़ी जाति के जीव ही विशेषतः देखने को मिलते हैं।

ये सब छोटे छोटे प्राणी और केकड़े, जल-बिच्छू आदि की जाति के प्राणी बहुत दिनों तक जल के भीतर एकच्छत्र आधिपत्य स्थापित कर के रहे। बहुत दिनों का अर्थ है कई सहस्रों वर्ष तक। तत्पश्चात् धीरे-धीरे दाँत, आँख एवं अस्थि से संयुक्त एक जीव जल के भीतर दृष्टिगोचर हुआ। वह थी आदि युग की मछली। इन सब मछलियों के जो चिह्न हमें खोजने से मिलते हैं, उनके आधार पर हिसाब लगाने से समझा जाता है कि कम से कम ५०,००,००,००० वर्ष पूर्व ये मत्स्य-जाति के जीव इस धरा-धाम में विचरे होंगे। उस आकार की मछलियाँ अब और देखने को नहीं मिलतीं। वे आज-कल की समुद्र-गोह (Sharks) और स्टरजियन (Sturgeons) से कुछ कुछ मिलती-

जुलती थीं। आजकल की दृष्टि से यद्यपि ये दीर्घकाय कदापि नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि ये प्रायः दो-तीन हाथ से अधिक लम्बी नहीं होती थीं। किन्तु इस नियम के अपवाद में कोई कोई बीस फ़ीट लम्बी मत्स्य-अस्थियाँ भी पाई गई हैं। यद्यपि उनकी संख्या नगण्य-सी ही है।

कोयले का आदि जन्म

यह सही है कि पृथ्वी-तल की तरल अग्नि क्रमशः ठण्ढी होकर स्तर के रूप में परिणत हो गई; किन्तु इससे यह समझ लेना भूल होगी कि तभी आज की तरह ऋतु-क्रम, शीत-ग्रीष्म अथवा सहन हो सकने योग्य जल-वायु भी उत्पन्न हो गई। भू-तत्त्व-विशारदों ने नाना प्रकार से गवेषणा करके यह परिणाम निकाला है कि पृथ्वी को कभी-कभी विचित्र प्राकृतिक व्यवस्थाओं के सिलसिले में बहुत दिनों तक दुस्सह सर्दी अथवा दुस्सह गर्मी सहन करनी पड़ी है। ऐसा क्यों हुआ यह ठीक नहीं मालूम। सम्भव है सूर्य और पृथ्वी के बीच की दूरी के घटने-बढ़ने से ऐसा हुआ हो अथवा कोई और कारण रहा हो। इसके साथ ही पृथ्वी की आभ्यन्तरिक अव्यवस्था भी सहज ही नहीं मिटी। पृथ्वी के गर्भ में भी अनेकों महान् और भयंकर क्रियायें लाखों वर्ष पर्यन्त होती रहीं। प्रचण्ड ज्वालामुखियों के उदय के रूप में पृथ्वी के गर्भ से उछले हुए पदार्थ कहीं नये पहाड़ों की रचना कर देते थे तो कहीं ऊँचे पर्वत ध्वस्त होकर गहरे समुद्र में विलीन हो जाते थे। इसी कारण पृथ्वी के ऊपर पेड़-पौदों अथवा स्थलचारी जीवों को अवतीर्ण होने में अत्यन्त विलम्ब हुआ। पेड़-पौदों और स्थलचारी जीवों में पहले कौन इस धरा-धाम पर अवतीर्ण हुआ, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। सम्भव है पेड़-पौदे ही पहले जन्में हों किन्तु प्राणी को उनका अनुगमन करने में बहुत समय लगा हो ऐसा भी नहीं है।

किन्तु पहले-पहल जो पेड़-पौदे उत्पन्न हुए, वे अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सके क्योंकि उनका जन्म हुआ था दलदल और कीचड़ में और कुछ दिनों बाद पेड़-पौदों के सहित सारा दलदल और ज़मीन प्राकृतिक विपर्यय के फलस्वरूप मिट्टी के नीचे दब गई। इस प्रकार पृथ्वी के गर्भ में विलीयमान कीचड़ और वृक्षों ने सहस्रों वर्षों तक सूर्य की गर्मी

ग्रहण करते-करते एकाकार होकर क्रमशः कोयले का रूप धारण कर लिया। आज जिस कोयले को चूल्हे में जलाकर हम रोटी पकाकर खाते हैं, वह उपरोक्त विधि से बनी हुई वस्तु ही है जिसे हमने आज पृथ्वी के अतल-तल से खोदकर बाहर निकाला है। खानों में अगर कोयले के स्तर को साधारण अवस्था में देखा जाय तो उनके भीतर प्रायः साधारण लोग भी वृक्षों के स्तर और जटावत् मूलों के अस्तित्व को समझ जायँगे।

इसी दलदल ज़मीन में पहले-पहल कई प्रकार के स्थलचारी प्राणी दृष्टिगोचर हुए थे। इनमें से अधिकतर उभयचारी थे; अर्थात् वे जल और स्थल दोनों में रह सकनेवाले प्राणी थे और सभी अंडा देनेवाले थे। इन सब जीवों में अधिकतर पतंगे, शतपद और सहस्रपद जाति के जीव थे। इनमें प्राचीन राजकेकड़े (King Crabs) और समुद्री बिच्छुओं के सजातीय प्राणी भी थे। ये क्रमशः सर्वप्रथम मकड़ी और स्थल के बिच्छू कहलाये; फिर कालान्तर में रीढ़दार पशु भी मिलने लगे। किन्तु उन प्रथम जीवों में सभी की देहों पर अस्थि के चिह्न पाये गये हैं। इसके पहले के जिन जीवों का वर्णन किया गया है उनमें किसी के भी मेरुदण्ड नहीं थे; किन्तु इस बार अस्थि और मेरुदण्ड-संयुक्त एवं अंडे देनेवाले जीव दृष्टिगोचर हुए। इनमें कई बहुत बड़े भी थे। उदाहरणार्थ सपक्ष नाग (Dragon Fly) के समान प्रतीत होनेवाली तत्कालीन विराटाकार मक्खियाँ अपने परों के साथ २९ इंच लम्बी होती थीं।

किन्तु ये स्थलचर जीव भी जल के भीतर और कीचड़ में ही विचरण करते थे। अतएव पहाड़ों के ऊपर अथवा अपेक्षाकृत समतल क्षेत्रों में पेड़-पौदों अथवा प्राणियों का कहीं पता नहीं था क्योंकि बीज-पोटलियों (Spores) का पानी में गिरना वृक्षोत्पत्ति के लिए तब आवश्यक था। पृथ्वी के वक्षस्थल पर जीवन तब तक इसी क्षुद्र गहराई में सीमाबद्ध था।

सरीसृप और बृहत्काय जीव

कोयले के युग अथवा कार्बन-काल के इन साधारण प्राणियों के दृष्टिगोचर होने के पश्चात् सुदीर्घ सूखे और भयंकर बर्फ़ीले युग का

प्रारम्भ हुआ। इस शुष्कता और शीत में पेड़-पौधों और प्राणियों का अन्त हो गया, जिनके ऊपर धीरे-धीरे धूल और बालू की तहें कालान्तर में जम गईं। इसी कारण उक्त दबे हुए पदार्थ सिमट कर ख़ूब ठोस और कड़े हो गये, आजकल संसार में पाई जानेवाली कोयले की खानें उन्हीं का रूपान्तर-मात्र समझी जाती हैं। इसके पश्चात् अनेकों सहस्र वर्षों में जब पृथ्वी की स्थिति बदली और हवा में गर्मी और नमी बढ़ी तब फिर प्राणतत्त्व की सृष्टि होना प्रारम्भ हुई। किन्तु इस बार सीधे-सीधे स्थलचारी जीवों का अस्तित्व देखने में आया, अर्थात् अब ऐसे जीव सृजित हुए जो पानी से बहुत दूर रहकर भी जीवन धारण कर सकने में समर्थ थे। यह नवीन सृष्टि सरीसृपों की थी, जिनमें अधिकांश घड़ियाल, कछुए (Cheloniae), गिरगिट आदि की जाति के थे। ये भी अंडे देनेवाले प्राणी अवश्य थे, किन्तु कार्बन-कालीन जीवों की भाँति उन्हें अंडा देने के लिए पानी में जाना आवश्यक नहीं था और न जीवन धारण करने के लिए जल की धारा में रहना ही प्रयोजनीय था। इन प्राणियों के साथ ही साथ ऐसे बीजवाले पेड़-पौधों का भी कुछ कुछ विकास हो चला था, जो झीलों अथवा दलदलों की सहायता के बिना भी अपने बीजों को फैला सकते थे और इन्हीं पेड़-पौधों के पत्ते, फल और मूल खाकर ये सरीसृप जीवित रहते थे।

सरीसृप हम लोगों के समय में भी हैं सही, जैसे साँप, कच्छप, गिरगिट, मगर, घड़ियाल इत्यादि; किन्तु आज उनकी संख्या और उनका परिमाण दोनों ही बहुत घट गये हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उनके जीवित रहने योग्य पर्याप्त गर्मी का हमारे इस युग में अभाव है। हम आज यह प्रत्यक्ष ही देख पाते हैं कि जाड़े में सरीसृपश्रेणी के जीव बिना किसी अपवाद के प्रायः लुप्त हो जाते हैं और फिर वसंत की वायु के साथ ही साथ हमारे बीच आ उपस्थित होते हैं। सरीसृप-कल्प के जो चिह्न पहाड़ों में पाये जाते हैं उनसे समझा जाता है कि तब सरीसृपों की जाति और संख्या अगणित थी और उनके आकार की विशालता भी अकल्प्य थी। वे मानो कृत्रिम उष्णगृह के जीव थे, और बहुत सम्भव है, किसी विचित्र कारणवश तब पृथ्वी की आबहवा सदैव गर्म ही रहती हो।

साधारण गिरगिट, घड़ियाल और साँप आदि के अतिरिक्त भी उस समय अनेकों प्रकार के सरीसृप विद्यमान थे। इनमें से किसी-किसी का आकार होता था इक्कीस फ़ीट अथवा सत्तरह हाथ के लगभग लम्बा और इसी अनुपात से ऊँचा। ये भयंकर जन्तु गोह की आकृति के हुआ करते थे। इन्हें नाम दिया गया है डाइनोसार्स (Dinosaurs)।

इनमें भी एक प्रकार के और सरीसृप थे, जिनके अगले पाँव बहुत बड़े डैनों की तरह हुआ करते थे। उन्हें आजकल के वैज्ञानिक पक्षांगुलीय (Pterodactyls) नाम से पुकारते हैं। ये फुदक सकते थे और कुछ कुछ उड़ भी सकते थे। समझा जाता है कि रीढ़दार प्राणियों में सर्वप्रथम उड़नेवाले ये ही प्राणी थे।

स्थल और आकाश की ही तरह इस समय जल के भीतर भी बृहदाकार सरीसृपों का अभाव नहीं था। किं-गोहाकृतीय (Plesiosaurs) मत्स्य-गोहाकृतीय (Ichthyosaurs) तथा सरित-गोहाकृतीय (Mososaurs) आदि आधुनिक भीमकाय जीव जल में विराजमान थे। इस समय अन्य समुद्री जीवों के जो चिह्न पाये जाते हैं, वे नितान्त ही कठोर आवरण से ढके नगण्य जीवों के हैं, जिन्हें हम सहज ही भूल जा सकते हैं।

सरीसृपों का युग प्रायः आठ करोड़ वर्षों तक चला। डाइनोसार्स और पक्षांगुलीय आदि भयंकर जीवों के बेरोक-टोक राज्य कर चुकने के बाद प्रकृति के अमोघ विधान के फलस्वरूप फिर पहले की तरह पृथ्वी पर मरणान्तक शीत का उद्भव हुआ। पहले-पहल सरीसृपों के इन दलों ने इस अचानक उपस्थित मृत्यु से लड़ने की चेष्टा की थी। इस समय के एक प्रकार के छोटे-छोटे सरीसृप हमें देखने को मिलते हैं, जिनकी देह पर शीत-निवारणार्थ पाँखें और डैने उग आये थे। इसके बावजूद भी उन्हें वास्तविक पक्षी नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त, समझा जाता है कि शीत से रक्षा पाने के लिए स्थलचारी जीवों की देहों में भी कुछ रोयें जम आये थे। किन्तु इतना सब होते हुए भी एक दिन ऐसा आया जब पृथ्वी का समस्त प्राणतत्त्व निश्चिह्न हो गया।

दूसरा प्रकरण

वर्तमान युग की सूचना

पहले जिस शीत-प्रलय का वर्णन किया गया है उसके बाद कुछ दिनों तक पृथ्वी-तल पर प्राणी का इतिहास मौन साधे पड़ा रहा। लाखों-करोड़ों वर्ष पर्यन्त पृथ्वी की छाती पर आनन्दपूर्वक विचरण कर चुकने पर भी, इसके पूर्व के जीव कुछ ऐसा संचय नहीं कर सके थे जो उक्त शीत-प्रलय के दिनों में उनके काम आता। फलस्वरूप पृथ्वी सहस्रों वर्ष तक जीव-विहीन बनी रही। इसके बाद के जिस प्राणि-सृष्टि की खोज पंडितों ने की है उसके प्रारम्भ से आज तक अनेकानेक परिवर्तनों के बावजूद भी जीवन की धारा अक्षुण्ण बनी हुई है। अतएव इस बार की जीवसृष्टि के प्रारम्भ को हम आधुनिक युग की सूचना कह सकते हैं। तब से अनेकों प्रकार से बाह्य रूपान्तर घटित हुए हैं, प्राणियों के शरीर में भी जीवनोपयोगी आवश्यक परिवर्तन हुए हैं; किन्तु आज तक फिर वैसे निरन्तर मृत्यु का सामना प्राणी को नहीं करना पड़ा।

यह वर्तमान युग की सूचना एक प्राकृतिक विप्लव से गुज़रकर उपस्थित हुई थी। अनुमान-द्वारा समझा जाता है कि ज्वालामुखी पर्वतों के दीर्घकाल-व्यापी उत्पातों के फलस्वरूप इस समय पृथ्वी का बाह्य स्वरूप पूर्णतः परिवर्तित हो गया था। हिमालय और आल्प्स आदि ऊँचे-ऊँचे आधुनिक पर्वत उभर-उभरकर ऊपर को आ निकले थे, एवं वर्तमान समुद्र एवं महाद्वीपों की प्रारम्भिक रूपरेखा भी सर्वप्रथम तभी प्रकट हुई थी। एक वाक्य में कहें कि सारी पृथ्वी ही उस समय मानो एक नये ढंग से उलट-पुलटकर नीची-ऊँची हो गई। अर्थात् सरीसृप अथवा कार्बन-काल में पृथ्वीतल पर पहाड़ों और समुद्रों की जो अवस्था थी, उसका कोई भी चिह्न शेष नहीं रह गया और नये पहाड़ों और नये

समुद्रों का जन्म हुआ। इस समय पृथ्वी का जो रूप हम देखते हैं, वह उसकी उक्त नवीन काया का ही आयु-वृद्धि-जनित रूप है। नदियों-द्वारा बहकर आई मिट्टी के स्तरों पर नये-नये देश निर्मित हो उठे। सम्भव है दो-एक स्थानों के उच्च-स्तर कुछ-कुछ समुद्रों के गर्भ में भी विलीन हो गये हों; किन्तु साधारणतया पहाड़ों की स्थिति और स्थान में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

इस नई व्यवस्था के कारण शीत का अन्त हुआ और पृथ्वी के ऊपर फिर गरम हवा चली। पृथ्वी पर घास-फूस, तृण-लता पैदा हुई और इस प्रकार आदिम गोचर-भूमि की सृष्टि हुई। इसके साथ ही नये आकार-प्रकार के प्राणी भी उत्पन्न हुए, जिनमें कुछ शस्याहारी थे और कुछ मांसाहारी। इस समय के विशालकाय प्राणियों को सरसरी दृष्टि से देखने पर, मन में होता है कि सम्भव है ये पूर्ववर्ती युग के सरीसृपों और गोहाकृतीय प्राणियों के ही वंशधर हों। किन्तु उनके स्वभावों को ध्यानपूर्वक देखने से मध्य जीव-युग और नवीन जीव-युग का गहरा अन्तर स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है। सरीसृप-श्रेणी के जीव अंडा देकर चल देते थे, नवजात प्राणी से उनका और कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। इसके विपरीत नये युग के इन स्तनपायी विशालकाय प्राणियों में एक साधारण-सी सामाजिक व्यवस्था का भी दर्शन होता है। इनकी सन्तानें यदि माता-पिता दोनों को नहीं तो कम से कम माता को तो अवश्य जानती-पहचानती थीं, क्योंकि नवजात सन्तति को स्तन-पान कराना, उनकी शुश्रूषा और भरण-पोषण करना उन्हीं का काम था। नये युग में एक गोत्र के प्राणी दलबद्ध होकर रहने की चेष्टा करते थे तथा अपनी जाति की सहायता और साहचर्य की इच्छा रखते थे।

उनके भीतर एक और जो विशेष अन्तर देखा गया वह मस्तिष्क का अन्तर था। सरीसृप-कल्प के प्राणियों में मस्तिष्क नहीं था, अथवा उसकी क्रियायें एकदम ही अविकसित थीं; तभी उनमें अनुकरण-द्वारा सीख सकने आदि की क्षमता नहीं थी। किन्तु इन नये प्राणियों में यह चीज़ थोड़ी-थोड़ी दृष्टिगोचर हुई और क्रमशः उसी की वृद्धि होकर

अधिकाधिक उन्नत-मस्तिष्क-युक्त प्राणियों का उद्भव हुआ। इनकी जाति कम नहीं थी। यह सही है कि अब उनमें के कोई जीव नहीं हैं, तब भी उनके आकार-प्रकार की गढ़न से वर्तमान काल के हाथी, घोड़े, बाघ और गैंडों की रचना की कुछ-कुछ समता है। ये ही थीं पृथ्वी की नई सन्तानें। कल्पना की जा सकती है कि आज जिन स्थानों पर मनुष्यों ने लन्दन अथवा न्यूयार्क जैसे नगरों की रचना कर डाली है, वहीं तब आधुनिक बाघों से अनेकों गुना बड़े तलवार जैसे दाँतोंवाले असंख्य बाघ विचरण किया करते थे।

फिर तुषार-युग

पृथ्वी का यह वसन्त-काल भी एक दिन समाप्त हो गया। पृथ्वी घूमती-घूमती फिर हिमकल्प की ओर अग्रसर हो आई, और पृथ्वी के वक्षस्थल पर तुषार का आवरण पड़ गया। वृष्टि नहीं, उष्णता नहीं, एकमात्र कठोर मरणान्तक शीत, फलस्वरूप उक्त नवयुग के अनेकों प्राणियों को पृथ्वी से चिरबिदा लेनी पड़ी। केवल कुछ लोमधारी जीव ही उस शीत में अपनी प्राण-रक्षा कर सकने में समर्थ हो सके। इस बार भी ठंडक पृथ्वी की उत्तर दिशा में ही विशेषरूप से पड़ी जिसमे समस्त वर्तमान योरप और उत्तर एशिया बर्फ़ से ढँक गया। जो थोड़े जीव-जन्तु बच गये वे किसी प्रकार पृथ्वी के उष्णतर दक्षिणी भाग में साधारण घास-पात खाकर ही जीवित रह सके।

पृथ्वी का यह तुषार-युग, जिसे वैज्ञानिकों ने चतुर्थ तुषार-युग नाम दिया है, कई सहस्रों वर्ष तक चला किया। इसी विश्वव्यापी सुदीर्घ शीतकाल में, पहले युग के प्राणियों से अपेक्षाकृत अधिक-बुद्धि-सम्पन्न, मनुष्यों से समानता रखनेवाले प्राणी पृथ्वी पर सर्वप्रथम उत्पन्न हुए। यह बतला सकना तो अवश्य ही कठिन है कि ये लंगूर या बन्दर-कोटि के प्राणी आज से कितने पहले दृष्टिगोचर हुए थे, क्योंकि भूतत्त्व-विशारदों-द्वारा पहाड़ों में से खोज निकाली गई प्रस्तरीभूत अस्थियों तक ही हमारे ऐतिहासिक शोध की पहुँच है। वानर-जाति के जीव साधारणतया पेड़ों पर अथवा जङ्गलों में घूमते रहते थे और इस कारण उनका समुद्र

में डूबना या अकस्मात् मिट्टी के स्तरों में दब जाना सम्भव नहीं था, जिसके कारण उनकी अस्थियाँ प्रस्तरीभूत नहीं हो सकीं। अतएव इस श्रेणी के बन्दरों की हड्डियों के फॉसिल उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी पंडितों ने अनेक चिन्तन और मनन के पश्चात् यह निश्चय किया है कि इस हिम-युग के लगभग चालीस लाख वर्ष पूर्व भी नवीन जीव-युग का आधा भाग बीतते न बीतते मनुष्यों के जबड़े और टाँगों से मिलती-जुलती हड्डीवाले लंगूरों की कई मनुष्याकार जातियाँ उत्पन्न हो चली थीं; किन्तु सम्भवतः उनके सिर में मस्तिष्क नाम का पदार्थ नहीं था। फिर भी मनुष्यों के लगभग समान कहला सकनेवाले प्राणी उक्त हिम-कल्प के समय में ही मिलते हैं।

पर इस अन्तिम तुषार-युग के वानर पहले के वानरों की अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत श्रेणी के जीव थे। इन नये वानरों की एक श्रेणी का, जिसे वनमानुष या 'एप' कहा जाता है, आकार-प्रकार बहुत कुछ मनुष्यों की ही तरह था। किन्हीं-किन्हीं विद्वानों की सम्मति है कि यह अर्द्ध-मानव प्राणी ही आधुनिक मनुष्य का पूर्व पुरुष था, जो प्राकृतिक परिवर्तनों के फलस्वरूप क्रमशः आज के रूप में परिणत हो गया है। इन वनमानुषों का ठीक आकार-प्रकार क्या था, उनकी चाल-चलन कैसी थी अथवा ठीक किस समय वे पृथ्वी पर अवतरित हुए, यह कुछ भी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। इसके बावजूद भी पृथ्वी के स्तर में से जो पत्थरों से बनी हथियार जैसी चीज़ें पाई गई हैं उनसे समझा जाता है कि कम से कम पाँच लाख वर्ष पूर्व मनुष्य के क़िस्म के ऐसे जीव पृथ्वी पर रहते थे, जिन्होंने आपस में युद्ध करने के लिए पत्थर से ये विशेष वस्तुएँ बनाई थीं। यद्यपि जिन्होंने ये सब चीज़ें बनाई थीं उनकी कोई भी अस्थि खोजने पर इन चीज़ों के साथ नहीं मिलती। केवल जावा द्वीप के ट्रिनिल नामक गाँव में पहाड़ों के स्तर से उक्त समय के वनमानुष के समान एक प्राचीन प्राणी की खोपड़ी का एक अंश और कई एक हड्डियाँ ऐसी पाई गई हैं जिनसे समझा जाता है कि उनका मस्तिष्ककोष आधुनिक

पुच्छविहीन मनुष्याकार मर्कट से अधिक बड़ा होता था और वह सीधा खड़ा होकर चल-फिर सकता था।

ये अस्थियाँ वैज्ञानिकों के निकट विस्मय की वस्तु बन गईं, क्योंकि समय की गति के साथ-साथ उक्त प्रकार के अस्त्रों का रूप परिवर्तित होता हुआ तथा उनकी संख्या बढ़ती हुई तो हम पाते जाते हैं; किन्तु मनुष्य से निकटतम सादृश्य रखनेवाले प्राणी हमें बहुत बड़े कालान्तर के बाद ही मिलते हैं। पहले के अस्त्र विभिन्न उपयोगों के लिए पत्थरों के बने होते थे, किन्तु क्रमशः पाई गई अन्य वस्तुओं से प्रत्यक्ष है कि कालान्तर में वे अस्त्र उषःकालीन अस्त्रों की भाँति भद्दे और भोड़े न होकर बुद्धि व्यय करके कुशलतापूर्वक बनाये हुए होने लगे थे। परन्तु बाद में वास्तविक मनुष्यों-द्वारा निर्मित वैसे ही अस्त्रों से उनका आकार कहीं अधिक बड़ा होता था। फिर भी यह प्रश्न शेष ही रह जाता है कि जिन्होंने यह सब बनाया, व्यवहार किया वे कौन थे? वे कहाँ हैं?

पहले-पहल जिस समय मनुष्य जैसा प्राणी दृष्टिगोचर हुआ, वह आज से केवल ढाई लाख वर्ष पहले का समय था। हाइडलबर्ग नामक स्थान के एक रेतीले गर्त्त में जबड़े की केवल एक हड्डी मिली है जो मनुष्य के जबड़े से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। यद्यपि वह साधारण मनुष्य के जबड़े से बहुत बड़ी, कहीं अधिक भारी और सकरी, ठोड़ी-रहित और अत्यन्त बेडौल है, फिर भी वह मनुष्यों की जैसी ही है। इस हड्डी का रचना-प्रकार देखकर हम अनुमान लगा सकते हैं कि उस समय अनेकों मनुष्याकार विराट्काय, रोमों से भरे शरीरवाले एवं वाणीविहीन प्राणी रहते होंगे। वैज्ञानिक परिभाषा में इस प्राणी को 'हाइडलबर्ग-मनुष्य' कहते हैं।

केवल यही अस्थि जो उपलब्ध है, उससे समझा जाता है कि राशि-राशि पड़े पाये जानेवाले अस्त्र बहुत सम्भव है इन्हीं प्राणियों के बनाये हों और इसी समय के बने हों। इस समस्या को हल करने में भू-तत्त्व-वेत्ता आज भी संलग्न हैं।

किन्तु उनकी समस्या यहीं समाप्त नहीं होती। वर्तमान इँग्लैंड

के ससेक्स प्रान्त में एक स्थान है पिल्टडाउन, वहाँ खुदाई के सिलसिले में लगभग डेढ़ लाख वर्ष पहले की कई ऐसी हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं जिन्होंने भू-तत्त्व-वेत्ताओं को चक्कर में डाल दिया है। साधारण वन-मानुषों से बहुत बड़ी तथा मनुष्य के सिर से मिलती-जुलती एक खोपड़ी और उसके साथ कई हड्डियाँ एकत्र मिली थीं। इन हाड़ों में एक हाथी का दाँत भी पाया गया है, जिसके ठीक बीच में एक छेद बना हुआ है। वह छेद प्राकृतिक नहीं है, निश्चय ही उसे किसी ने हाथ से बनाया है। प्रश्न उठता है यह छेद किसने किया होगा? मनुष्य ही की तरह हाड़ में छेद करनेवाला वह मनुष्य नहीं था; तब वह कौन-सा प्राणी था? वैज्ञानिकों ने उसका नाम रक्खा है 'उषःकालीन मनुष्य'।

किन्तु इसके अतिरिक्त और कोई भी चिह्न कहीं उपलब्ध नहीं है। अतएव विज्ञान के शोधक पृथ्वी के स्तरों की परीक्षा करते-करते जहाँ तक वर्तमान काल की ओर अग्रसर हो सके हैं वहाँ तक उन्हें मिले हैं, कुशल हाथों-द्वारा निर्मित कई एक छोटे-छोटे दैनिक व्यवहार के यंत्र आदि। निश्चय ही यह सब साधारण वानर या वनमानुष की कृतियाँ नहीं हो सकतीं। फिर भी पंडितों का कहना है कि चाहे जितने ऐसे यन्त्र मिलें और चाहे जो भी हो जाय, उस समय साधारण मनुष्य नहीं था चाहे और जो प्राणी रहा हो। वह वानर से अधिक बुद्धिमान् कोई जीव था जिसके मस्तिष्क की मानव-मस्तिष्क से बहुत समानता थी, फिर भी वह मनुष्य नहीं था।

रहस्यमय एवं विचित्र अतीत मौन खड़ा, केवल हमारे अज्ञान पर हँस रहा है।

अर्द्ध-मानव

वर्तमान योरप में ऐसी प्रस्तरीभूत अस्थियाँ तथा अन्यान्य यन्त्र आदि पाये गये हैं जिन्हें देखकर अभी कुछ दिन पूर्व तक हम यही समझा करते थे कि यह चतुर्थ हिम-कल्प के अन्तिम दिनों की—कोई ५०-६० हज़ार वर्षों पहले की—चीज़ें मनुष्य ही की हैं, अथवा और ठीक से कहें कि मनुष्य के पूर्व-पुरुषों की हैं। किन्तु

अब वैज्ञानिकों ने यह घोषित कर दिया है कि तब के प्राणी भी वास्तविक मनुष्य नहीं थे। वे मनुष्येतर कोई अर्द्ध-मानव क़िस्म के जीव थे। इनका ठीक परवर्ती प्राणी भी वर्तमान काल के मानव से भिन्न था। मनुष्य के पूर्व पुरुष का आकार-प्रकार कुछ और ही था।

जो भी हो, यह विवाद पंडितों के लिए छोड़कर, हम यह देखें कि यह अर्द्ध-मानव किस प्रकार के थे। जहाँ तक प्रमाण पाया गया है उससे हम यह जान सके हैं कि वे आग जलाना जानते थे, शीत-रौद्र से रक्षा पाने के लिए गुफाओं में निवास करते थे, वल्कल और पशुचर्म शरीर पर धारण करते थे, मनुष्य की तरह ही दाहना हाथ अधिक व्यवहार में लाते थे एवं अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अस्त्र-शस्त्र तथा यन्त्र आदि बना लेते थे। इनके मस्तक होते थे खूब छोटे और जबड़े होते थे बहुत बड़े। गर्दन इनकी नहीं के बराबर ही होती थी, जिसके फलस्वरूप हम लोगों की तरह वे इच्छानुसार सिर नहीं उठा सकते थे। बहुत सम्भव है वे सीधे होकर चल भी न पाते हों और शायद सिर को नीचा और आगे की ओर किये ही चलते हों।

इनका मस्तिष्क-कोष अवश्य बड़ा था, किन्तु उसकी भी रचना ठीक मनुष्य की तरह नहीं थी, जिससे अनुमान होता है कि उनकी मानसिक शक्तियों का क्रम भी हमसे भिन्न प्रकार का था। इनके दाँतों की रचना भी विचित्र थी, जिससे समझा जाता है कि ये मांसाहारी से अधिक फलाहारी होते थे। सहस्रों लाखों वर्षों तक इस श्रेणी के प्राणियों ने कन्द-मूल-फल खाकर ही जीवन धारण किया था। तो भी उनकी गुफाओंमें से किसी जानवर की हड्डियाँ भी पाई गई हैं जिससे बोध होता है कि अन्तिम दिनों में इन्होंने कुछ-कुछ मांस खाना भी शुरू कर दिया था।

उस समय भी पृथ्वी का लगभग आधा भाग घोर तुषाराच्छन्न था। उस अर्द्ध-भाग में शीत का अत्यन्त प्रकोप था। पृथ्वी की आकृति भी ठीक आज जैसी नहीं थी। आज जिन स्थानों पर हम वास करते हैं उन बंगाल-पंजाब अथवा काशी-प्रयाग के कुछ भी चिह्न नहीं थे। इँग्लड और फ़्रांस के बीच तब तक समुद्र नहीं था। इन दो बातों से ही

समझा जा सकता है कि पृथ्वी का बाह्य रूप तब से कितना बदल गया है। तब पृथ्वी का उत्तरार्द्ध वृक्ष और लताओं से रहित मरुभूमि के समान था। यद्यपि दक्षिणार्द्ध में उस समय कुछ कुछ गर्मी के साथ-साथ पेड़-पौधे भी दृष्टिगोचर होने लगे थे, तब भी उनमें अधिकांश विगत मरणान्तक शीत के प्रभाव से बचकर उग सकने में असमर्थ ही थे। अतएव अधिकांश स्थान उजाड़ ही पड़ा था।

ऐसे ही में यह अर्द्ध-मानव या नींडरथालीय प्राणी बहुत दिनों तक रहते रहे। उनके साथी थे लोमपूर्ण विराट्काय हाथी, अथवा झबरीले मैमथ (Mammoth), बड़े-बड़े रोमयुक्त गैण्डे, हिम-देशों के बारह-सिंगे (Reindeer) और बालोंवाले महोक्ष (Great Oxen)। इस काल के मनुष्य देखने में कैसे थे यह ठीक बतला सकना कठिन है। तब भी उनके जबड़ों की रचना देखकर अनुमान होता है कि वे बात नहीं कर सकते थे, बोल नहीं सकते थे।

इन मनुष्यों और वास्तविक मानव अर्थात् हमारे यथार्थ पूर्वपुरुषों के बीच की अवस्था का इतिहास आज तक कुछ ठीक नहीं जाना जा सका है। किस रूप में पहले-पहल मनुष्य का जन्म हुआ और ठीक कहाँ वे पहले-पहले देखे गये, इन सबका इतिहास आज भी अज्ञात ही है। कभी जाना जा सकेगा, इसका भी कुछ निश्चय नहीं है। तब भी सन् १९२१ में दक्षिण अफ़्रीक़ा के रहोडेशिया प्रान्त के ब्रोकन हिल (Broken Hill) नामक स्थान पर खुदाई में जो अस्थियाँ पाई गई हैं उनकी आकृति अर्द्ध-मानवों की अस्थियों से कुछ भिन्न है। खोपड़ी से पता चलता है कि इनका मस्तिष्क हम लोगों जैसा ही था तथा अन्य अस्थियों से यह भी समझा जाता है कि ये वास्तविक मनुष्य की ही तरह सीधे होकर चल सकते होंगे। इनके दाँतों की रचना भी पूर्णतः मनुष्यों की तरह ही थी। तब भी सिर और जबड़ा देखने से पता चलता है कि इनकी मुखाकृति अवश्य पुच्छविहीन मनुष्याकार मर्कट की भाँति रही होगी।

किन्तु इसके बावजूद भी, ये मनुष्याकार मर्कट नहीं थे। इतना ही क्यों ये अर्द्ध-मानव अथवा नींडरथालीय मनुष्यों से भी अधिक उन्नत श्रेणी के जीव थे। किन्तु किस समय ये पहले-पहल पृथ्वी पर दृष्टिगोचर

हुए और कितने दिनों तक पृथ्वी पर विचरण करते रहे, इसका निर्णय आज भी ठीक-ठीक नहीं हो पाया है। इनका अधिकांश इतिहास रहस्य के पर्दे में छिपा पड़ा है।

मनुष्य का पूर्व पुरुष

यथार्थ मानव के जो चिह्न पाये गये हैं उनसे पता चलता है कि उनका अस्तित्व बहुत पुराना नहीं है। पृथ्वी की आयु और उसके एक-एक कल्प की तुलना में तो इसे कल की बात भी कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। इनके प्रथम उद्‌भव के प्रश्न पर बहुत चिन्तन करने के बाद भी अभी विद्वान् किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। डार्विन आदि की श्रेणी के वैज्ञानिकों की सम्मति है कि मनुष्याकार विराट् मर्कटों का ही एक सम्प्रदाय (Species) क्रमशः उन्नति करते-करते बुद्धि की सहायता के बल पर वर्त्तमान मानव की अवस्था में पहुँच गया है। किन्तु इस विषय पर यथेष्ट मतभेद है, यहाँ तक कि किसी-किसी देश में विद्यार्थियों से इस विषय की चर्चा तक करना वर्जित है।

ऐसा ज्ञात होता है कि प्रथम सृष्टि की बात अज्ञात होने और विभिन्न नये विज्ञानों का अस्तित्व न होने से ही मनुष्य सृष्टि को भगवान् की इच्छा मानकर निश्चिन्त बैठ गया था। दूसरा चारा भी तो नहीं था। तब भी हिन्दूधर्म के दशावतारों की कल्पना वर्त्तमान वैज्ञानिकों के जीवसृष्टि-सम्बन्धी मत से मिलती-जुलती-सी लगती है। जैसे दशावतारों में प्रथम अवतार माना गया है मत्स्य अर्थात्, जलचर या समुद्रचर प्राणी, उसके बाद कूर्म्म अर्थात् सरीसृप-सृष्टि, फिर वाराह अर्थात् अतिकाय प्राणी, फिर नृसिह—यानी अर्द्ध-मानव या नींडरथालीय प्राणी, जिसका सिर होता था पशु की तरह और शरीर आदमी जैसा, इत्यादि। संभव है पौराणिकों ने एक-एक कल्प की जीव-सृष्टि को भगवान् का अलग-अलग अवतार मान लिया हो, जो विचित्र भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी दार्शनिक धारणा जीव को भगवान् का अंश ही मानती है।

जो भी हो, बहुत दिनों तक लोग इन धर्मग्रन्थों में उल्लिखित धारणाओं पर ही अपना विश्वास बनाये रहे। अभी पिछले दिनों तक

योरप के कैथोलिक राज्यों में गवेषणा-द्वारा निर्णीत, धर्मग्रन्थों से भिन्न मत विशेष रूप से दण्डनीय माने जाते थे। किन्तु वर्त्तमान समय में वैज्ञानिकों ने ऐसे दृढ़ स्वर में अपने विचारों की घोषणा की है कि धर्म-पुस्तकों की उक्ति क्रमशः अपना गुरुत्व खो चली है।

जैसा कि हमने पहले ही कहा है, इस सम्बन्ध में निश्चय ही विज्ञान अभी तक मौन है कि ठीक कब, कहाँ से और किस प्रकार वर्त्तमान मानव के पुरखे पैदा हुए, क्योंकि इस विषय का अन्वेषण अभी प्रारम्भ ही हुआ है, अभी उसे पर्याप्त राह तय करनी है। योरप में आदि-मानव के जो चिह्न पाये गये हैं, वे केवल तीस से चालीस हज़ार वर्ष पुराने हैं। उन सब चिह्नों के आधार पर पंडितों ने अनुमान लगाया है कि पृथ्वी के दक्षिणार्द्ध में अपेक्षाकृत ऊँचे स्थानों पर ही प्रथम मानव का उद्भव हुआ होगा। फिर उत्तरार्द्ध का तुषार जैसे-जैसे टलने लगा और जैसे-जैसे तरु-लता एवं तरु-लता-भोजी प्राणी वहाँ दृष्टिगोचर होते गये, तैसे-तैसे मनुष्य भी अपने भोजन की खोज में उनके पीछे-पीछे वहाँ पहुँच गया। ये आदि मानव जब योरप या उत्तर एशिया में आये तब भी वहाँ अर्द्ध-मानव श्रेणी के जीव निवास करते थे। उनके साथ आदि मानवों को युद्ध करने पड़े और उन युद्धों में बार-बार अर्द्धमानव की पराजय हुई। यहाँ तक कि पृथ्वी से क्रमशः उनका चिह्न तक मिट गया। आदि-मानव ने उनकी श्रेणी का अन्त कर दिया।

किन्तु यह तो हुआ केवल योरप या अधिक से अधिक उत्तरी एशिया का इतिहास-सूत्र, संसार के अन्य भागों का इतिहास क्या अन्धकार में ही पड़ा रहेगा ?

वास्तव में इनके अतिरिक्त और कहीं का इतिहास-सूत्र मनुष्य की पकड़ में नहीं के बराबर ही आ पाया है। वैज्ञानिकों को अपने अन्वेषण-कार्य के लिए जो सुविधायें योरप में प्राप्त हैं वे अन्यत्र नहीं। संभव है एशिया और अफ़्रीक़ा की गिरि-कन्दराओं में आज भी आदिम मानव का इतिहास नाना रूपों में बिखरा पड़ा हो। यदि वह सब किसी दिन अन्वेषकों की दृष्टि में आगया तो मानव अपना प्राचीन इतिहास जान सकेगा, अन्यथा उसे चिरकाल तक विविध प्रकार के अनुमानों पर ही निर्भर रहना पड़ेगा।

यह भी संभव है कि वह सब कुछ आज समुद्रों के अतल-तल में विलीन हो गया हो और उनकी सिकता और प्रवाल-राशि के नीचे दब गया हो, क्योंकि बात बहुत पुरानी है और तब से पृथ्वी का रूप भी बहुत बदल चुका है।

एशिया और अफ़्रीक़ा में अनुसंधान का कार्य बहुत बाक़ी पड़ा है। अमरीका में खोज का काम विस्तार के साथ हुआ है, किन्तु वहाँ पर नींडरथालीय मानव अथवा आदि मानव का कोई भी चिह्न प्राप्त नहीं हुआ है। वहाँ जो सबसे प्राचीन चिह्न प्राप्त हुए हैं वे मध्ययुग के हैं। उन चिह्नों से समझा जाता है कि मानव का जितना कुछ भी विकास हुआ है वह सब पृथ्वी के इसी भाग में हुआ है, और उसके बहुत दिनों बाद मनुष्य ऐसे रास्ते से अमरीका पहुँचा था जो आज बैहरिंग जलविभाजक के कारण लुप्त हो गया है। वहाँ का इतिहास बहुत पुराना नहीं है।

आदिमानव की जीवन-यात्रा

दक्षिण योरप में विशेषकर स्पेन देश की गिरि-गुहाओं में जो सारे चिह्न बिखरे पड़े हैं, उन्हीं से हम आदि मानव की जीवन-यात्रा का अनुमान लगा सकते हैं। स्पेन का नाम लेने का कारण यह है कि आज तक जहाँ कहीं जो कुछ भी आदि मानव के अवशेष चिह्न प्राप्त हो सके हैं उनमें सबसे अधिक प्राप्त हुए हैं स्पेन में ही। क्रोमेग्नान (Cro-magnon) और ग्रिमाल्डी (Grimaldi) नामक स्थानों की पर्वत-कन्दराओं में कंकालों, यन्त्रों और अस्त्र-शस्त्रों की प्रचुर परिमाण में प्राप्ति हुई है। यद्यपि इन दोनों स्थानों के मानव-सम्प्रदाय (Species) पूर्णतया विभिन्न आकृतियों के थे तथापि वे मूलतः मनुष्य ही थे, या यह कहिए कि वे मनुष्य के पूर्व पुरुष थे।

संभवतः आदिमानव की बाह्य आकृति ठीक आज के मनुष्य की तरह नहीं थी; किन्तु उनके शरीर का मूलगठन, मस्तिष्क-कोष का आकार एवं उसकी स्थिति तथा दाँतों की रचना आदि सभी कुछ आधुनिक मनुष्य जैसा ही था। ये लोग बोल सकते थे, सामाजिक ढंग पर दलबद्ध होकर रहते थे एवं पशु-पक्षियों आदि का शिकार करके खाते थे। जिन

दो पर्वत-कन्दराओं का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है उनमें क्रोमैंगनेन के भीतर जो मानव-अस्थियाँ पाई गई हैं, उनसे पता चलता है कि ये आदि मानव खूब लम्बे-चौड़े होते थे, इनकी खोपड़ी और हड्डियों की लम्बाई देखकर बोध होता है कि वे खूब बलिष्ठ रहे होंगे। ग्रिमाल्डी की पर्वतकन्दरा के अधिवासी इनसे कुछ निकृष्ट शरीर के थे, इसमें सन्देह का अब कोई स्थान नहीं रह गया है। आजकल अफ़्रीक़ा के जंगलों में जो असभ्य मूलनिवासी पाये जाते हैं उनसे इन आदिमानव-सम्प्रदाय के प्राणियों की शरीर-रचना बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

यद्यपि इन लोगों ने अर्द्ध-मानवों की गुफाओं पर अधिकार जमा लिया था, फिर भी ये प्राय: खुली जगहों में ही रहते थे। उनका पहनावा साधारण पशुचर्म का था। ये रंगीन घोंघों को गूँथकर हार तैयार करके गले में पहनते थे। हाड़ और पत्थरों की खुदाई करके मूर्तियाँ बनाना भी ये जानते थे। इसके अतिरिक्त और भी जाने कितने छोटे-छोटे यन्त्र आदि ये बना लेते थे। ये लोग कभी-कभी सुन्दर चित्र भी बनाते थे, यद्यपि चित्रकला की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है, पर उनसे इनकी क्षमता का परिचय तो मिलता ही है। अपनी अन्धकारपूर्ण गुफाओं की दीवारों पर, संभवत: उन्हें चर्बी जलाकर प्रकाशित करके, वे अपने कुशल हाथों से विविध जीव-जन्तुओं के चित्र बनाकर छोड़ गये हैं। उन चित्रों को देखकर एक ओर तो हम तत्कालीन जीव-जन्तुओं को पहचानने में समर्थ होते हैं और दूसरी ओर यह भी जान पाते हैं कि ये लोग विविध रंगों का प्रयोग करना भी निस्सन्देह जानते थे। साथ ही प्रचुर मात्रा में रंगों का व्यवहार देखकर यह भी कल्पना होती है कि इन रंगों का उपयोग वे लोग अपना शरीर रँगने में भी करते रहे होंगे।

ये लोग बर्छे से अथवा पत्थर फेंककर शिकार मारते थे। गृहस्थी के विशेष पशु तब नहीं होते थे, संभवत: भोजन के रूप में दूध का व्यवहार भी इन्हें नहीं मालूम था। यह सच है कि मिट्टी की मूर्तियाँ ये लोग बहुत तैयार करते थे, फिर भी मिट्टी के बर्तन अथवा रसोई का कोई सामान नहीं मिलता, जिससे प्रतीत होता है कि इस बला से ये लोग मुक्त ही थे। मांस या तो कच्चा खाते थे अथवा आग में भूनकर;

इसके अतिरिक्त ये लोग काँटे से मछलियाँ फँसाना भी जानते थे। कृषि-कर्म-द्वारा जीवन-यापन करने की बात इन्हें नहीं मालूम थी, फिर भी ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये त्यों-त्यों पृथ्वी की जल-वायु के परिवर्त्तन के साथ इनकी अस्त्र-शस्त्र-निर्माण एवं जीवन-निर्वाह की रीति भी बदलती गई।

पत्थर-युग का मनुष्य

आदिमानव ने जब योरप की गिरि-कन्दराओं और जंगलों में निवास करना प्रारम्भ किया, उसके कई शताब्दियों बाद उस रंगमंच पर एक नये सम्प्रदाय (Species) ने क़दम रक्खा। वह समय आज से लगभग पन्द्रह हज़ार वर्ष पहले का था। यह नवीन मानव-सम्प्रदाय कहाँ से आया, इस सम्बन्ध में इतिहास आज भी मौन है। फिर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि यह सम्प्रदाय आदि-मानव यानी क्रोमैग्नान और ग्रिमाल्डी के मनुष्यों से कहीं अधिक उन्नत था। स्पेन की जिस पर्वत-गुफा में इनका अस्तित्व पाया गया है, उसकी दीवारों पर या पत्थरों पर ये अपनी आश्चर्यजनक तसवीरें बना गये हैं। उक्त गुफा का नाम है मास-द-एजिल (Mas-d,Azile), और इसी आधार पर इतिहासज्ञों ने मनुष्यों के इस नये सम्प्रदाय का नामकरण किया है 'एज़िलियन मनुष्य'। उक्त चित्रों तथा अन्यान्य साधनों-द्वारा यह हम जान सकते हैं कि ये लोग धनुष-वाण का व्यवहार जानते थे, परों की बनी टोपियाँ पहनते थे और ख़ूब अच्छा चित्राङ्कण जानते थे। लिखने की कला न जानते हुए भी संकेतों की सहायता से भाव व्यक्त करने का कौशल पहले-पहल इसी सम्प्रदाय के मानव-द्वारा व्यवहार में लाया गया। और इसी प्रकार लेखन-कला की नींव पड़ी। उक्त प्रकार के प्राणी को इतिहासज्ञ प्रस्तरकालीन मानव (Plealithic Man) भी कहते हैं, क्योंकि वे पत्थरों का उपयोग अधिक करते थे।

इनके पीछे आज से कोई दस-बारह हज़ार वर्ष पूर्व एक अन्य सम्प्रदाय का उद्भव हुआ जो पत्थरों का और अधिक सुन्दर उपयोग कर सकता था। ये लोग न केवल प्रयोग में आनेवाली वस्तुएँ ही, बल्कि शिल्प की कृतियाँ भी बनाते थे। इसी युग के अन्तिम भाग में संभवतः

पहले-पहल मानव अमरीका की ओर भटक गया था। इस नये सम्प्रदाय को नवीन-पाषाण-युग (Neo-lithic Man) का. मानव कहते हैं।

आस्ट्रेलिया के समीपवर्त्ती तस्मानिया द्वीप में कुछ दिन पहले तक प्रस्तर-कालीन मनुष्यों से मिलते-जुलते मनुष्य रहते थे। भौगोलिक परिवर्त्तन के कारण ये लोग संसार के शेष मनुष्यों से कुछ अलग पड़ गये थे। फलस्वरूप उनके बौद्धिक जीवन और रहन-सहन की प्रणाली में विकास तो हुआ ही नहीं उलटी अवनति आ गई थी। वे आज से कुछ दिनों पहले तक कच्ची मछली और कच्चा मांस खाकर रहते थे तथा किसी तरह गड्ढों आदि में सर झुकाकर वास कर लेते थे। वे भी मनुष्य हैं, वे भी हमारे पूर्व पुरुषों के वंशधर हैं, किन्तु हमारे जीवन से उनके जीवन की कोई समता नहीं, कोई सादृश्य नहीं।

तीसरा प्रकरण

कृषि और पशुपालन का आरम्भ

मनुष्य ने पहले-पहल किस प्रकार कृषि करना सीखा, इस सम्बन्ध में हम अधिक नहीं जानते। यद्यपि इस बात पर बहुत दिनों से खोज जारी है, फिर भी मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि ईसा से लगभग १५,०००—१२,००० वर्ष पूर्व, जबकि योरप में प्रस्तर-युग के मानव (एलिज़ियन्स) निवास करते थे, उत्तरी अफ़्रीक़ा या मध्य-एशिया के किसी भूभाग अथवा भारत, ईरान या भूमध्य सागर की निचली घाटियों में, जो अब समुद्र के गर्भ में विलीन हो गई हैं, कुछ जातियाँ शताब्दियों से—मानव-सभ्यता के दो प्रधान लक्षणों—कृषि और पशु-पालन का विकास कर रही थीं। इसके अतिरिक्त वे लोग अपने दैनिक उपयोग की अन्य कई चीज़ें भी तैयार करना सीख चुके थे, जैसे मिट्टी के बर्तन, बल्कल के वस्त्र, चलनी अथवा ऐसी ही अन्य चीज़ें।

मानव की बुद्धि किस तरह वर्त्तमान उन्नति की ओर अग्रसर हुई है अथवा किस प्रकार वह इन सहस्रों वर्षों के बीच धीरे-धीरे इतना ज्ञान अर्जन कर सका है, इन सब बातों की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। कुसंस्कारों, बिभीषिकाओं और अज्ञताओं की सहस्रों बाधायें उसके मार्ग में रही होंगी, और संभवतः उसका मानसिक विकास वंशपरम्परा-द्वारा अर्जित अनुभवों की सहायता से हुआ है, किन्तु उन सबका हिसाब लगा सकना भी आज हमारे लिए संभव नहीं है। हम केवल इतना कर सकते हैं कि उनकी प्रगति के पथ का विवरण दे सकें। वह भी पूरी तरह संभव नहीं है, क्योंकि हो सकता है उसमें बहुत कुछ अनुमान पर ही आश्रित हो, बहुत कुछ किसी विराट् भ्रान्ति के ऊपर ही अवलम्बित हो।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, बहुतों का विचार है कि इस उन्नततर

मानव-सम्प्रदाय की आदि लीलाभूमि भारत का कुछ भाग, ईरान, अफ़्रीक़ा और वर्त्तमान भूमध्य सागर के कुछ हिस्से ही थे। किन्तु इसके बारे में तब तक निश्चयपूर्वक कुछ भी कह सकना संभव नहीं हो सकेगा जब तक वैज्ञानिकों को अपनी शोध के लिए उक्त स्थानों पर समुचित सुविधायें न प्राप्त हो जायँ। पृथ्वी के आदि इतिहास को लेकर अब तक योरपीय विद्वानों ने ही माथापच्ची की है, और उनके देशों में जो कुछ तथ्य संगृहीत हो सके हैं, अध्ययन के एकमात्र उपकरण वे ही हैं; अतएव आदिमानव का जो इतिहास हम जान सके हैं, वह अधिकांशतः योरप का इतिहास भर है। वहाँ जब अर्द्ध-मानव-सम्प्रदाय के प्राणी विचरण करते थे, उन दिनों संभवतः एशिया अथवा अफ़्रीक़ा की भूमि पर वास्तविक मानव ने जन्म ग्रहण किया था और हो सकता है कि वह प्रथम अवस्था से अत्यधिक उन्नत भी हो चुका हो। फिर भी इसके सम्बन्ध में ठीक बतला सकना कठिन है और उससे भी कठिन है उसके समय के सम्बन्ध में निश्चित राय प्रकट कर सकना। पहाड़ों के ऊपर मिट्टी के स्तरों में दबे जो काल-चिह्न अंकित हैं, वे ही काल-निर्णय के हमारे सर्वप्रधान साधन हैं; किन्तु उनके आधार पर निर्मित मत भी सर्वथा निर्भ्रान्त हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं है।

खेती करना भी मनुष्य ने कैसे और कब सीखा यह कह सकना कठिन है। प्रत्यक्ष ही है कि बहुतों के लिए यह समझ सकना दुष्कर है कि खेती सीखना भी कोई आश्चर्यजनक कार्य कहला सकता है, क्योंकि आज हम उसको एक स्वतःसिद्ध कार्य समझते हैं। हमें तो धरती की जुताई-बुवाई, फ़सल की कटाई, मँड़ाई और पिसाई आदि ऐसी स्वाभाविक बातें जँचती हैं, मानो वे अनादि काल से चली आ रही हों। किन्तु असल में बात इतनी साधारण नहीं है। मनुष्य को कृषि-कार्य की सफल विधियाँ एकाएक नहीं मालूम हो गई थीं। उन्हें समझने और जानने के लिए उसे असंख्य प्रयोग करने पड़े और उसे कितनी ही असफलताओं को पार करना पड़ा।

हमारा अनुमान है कि अन्न का परिचय मनुष्य को यों ही अकस्मात् मिल गया था। विद्वानों का कहना है कि भूमध्यसागर के निकटवर्त्ती किसी

भूभाग में जंगली गेहूँ अपने आप पैदा होता था। इसलिए यह अनुमान कर लेना आसान है कि गेहूँ बोना सीखने के बहुत पहले मनुष्य ने उसके दानों का कूटना, पीसना आदि सीख लिया होगा और बोना सीखने के पहले ही उसने कटाई भी शुरू कर दी होगी। ऐसा बोध होता है कि मनुष्य ने जिस प्रकार अन्न का पता अचानक पा लिया, वैसे ही बोना भी उसने सीख लिया होगा, किन्तु कौन-सा अन्न कब बोया जाना चाहिए इसका ज्ञान अवश्य ही बहुत दिनों के अनुभव और परीक्षणों के बाद ही उसे हो सका होगा। उसे अपने प्राथमिक ज्ञानों के अर्जन में भी अनेकों कुसंस्कारों और विविध प्रकार के निराधार भयों को जीतना पड़ा होगा।

पशु-पालन के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। पहले मनुष्य मांस के लिए पशुओं का वध करता था, फिर क्रमशः वह जान गया कि उन पशुओं में से बहुतों को पाला जा सकता है और उनसे अपनी सुविधा के अनुकूल काम लिया जा सकता है। पशुओं का दूध पीने जैसे अस्वाभाविक काम को भी उन्होंने सहज ही नहीं सीख लिया होगा। गाय, साँड़, भैंस इत्यादि पालना सीख लेने पर भी खाद्य रूप में दूध का व्यवहार करने की तरकीब बहुत संभव है, उन्होंने बहुत दिनों बाद सीखी हो।

विचारों का सूत्रपात

आज से इतने दिनों पूर्व के मनुष्यों की मानसिक अवस्था की कल्पना कर सकना हमारे लिए कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असम्भव भी है। हो सकता है कि पहले मनुष्य ने भी अन्य स्तनपायी प्राणियों की भाँति ही परस्पर एक वंश के सदस्यों का एक समूह बनाकर घूमना सीखा हो और इस प्रकार सामाजिक संगठन का सूत्रपात हुआ हो। किन्तु इसके पहले निश्चय ही व्यक्ति के अहंभाव का कुछ नियन्त्रण हो गया होगा, इसी लिए उक्त प्राथमिक सामाजिकता का थोड़ा ही और विकास होने पर उसमें माता-पिता का भय एवं भक्ति-भाव भी आवश्यक बन गया। फिर भी किसी वंश के वृद्धजन अपेक्षाकृत अल्पवयस्क व्यक्तियों पर शासन करें, उनके कर्त्तव्य–पथ का प्रदर्शन करें

आदि व्यवस्थायें कुछ देर में आई होंगी। युवा व्यक्ति वृद्धों के शासन से मुक्त होकर स्वाधीन विचरना चाहते होंगे, और वृद्ध लोग भी युवकों को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते होंगे, अतएव आदिम् युग में एक दूसरे की हत्या करके निष्कण्टक होने की चेष्टायें भी चलती होंगी।

हमारा विश्वास है कि वृद्ध लोगों ने अन्त में भय प्रदर्शित करके तरुणों को वश में करने का कौशल अपनाया होगा। हम जानते हैं कि कुछ पहले उत्पन्न होनेवाले अपने परवर्त्तियों की अपेक्षा अनुभव और ज्ञान में अवश्य ही बढ़कर हुआ करते हैं अतएव ऐसे ज्ञान और अनुभव के बल पर अपनी भक्ति और भय की मान्यता प्राप्त कर लेना वृद्धों के लिए अवश्य ही आसान हुआ होगा। और इसी भय के आधार पर धार्मिक विश्वासों की आदिम भावना उत्पन्न हुई होगी।

इस प्रकार कार्यकारण-सम्बन्धी प्रारम्भिक ज्ञानों के अभाव से भय एवं कुसंस्कारों की उत्पत्ति हुई एवं उन्हीं अज्ञात विषयों से सम्बन्धित भय और कुसंस्कारों की भित्ति पर मनुष्य के धार्मिक विश्वासों का महल उठ खड़ा हुआ। यह भय भी नाना प्रकार के रहे होंगे, जैसे भूत का भय, साँप का भय, अभिशाप का भय आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं नाना प्रकार के भयों से प्रथम देवताओं की सृष्टि हुई। कृषि-कर्म सीखने पर मनुष्य ने उक्त कार्य में जब वृष्टि और सूर्य की सहायता की अनिवार्यता अनुभव की, तब उन्हें भी देवत्व के आसन पर बैठा दिया। कृषि के इन देवताओं को रुधिर-बलिदान देने का विचार भी आश्चर्यजनक है। कृषिकर्म के उपलक्ष में नरबलि की प्रथा बहुत से देशों में अभी हाल तक रही है। ऐसा ज्ञात होता है कि पहले किसी विशेष भूमि के रक्षक माने जानेवाले उपदेवताओं की तुष्टि के लिए ही नरबलि दी जाती थी, फिर धीरे-धीरे वे ही उप-देवता देवताओं में परिणत हो गये। इन दुष्ट देवताओं से अपना परिचय बतलाकर गाँव के वृद्धों ने गाँवों पर शासन करना शुरू किया। कुछ दिन बीतने पर धीरे-धीरे यही लोग पुरोहित और धर्मगुरु का पद ग्रहण कर बैठे। इस प्रकार युक्ति और ज्ञान के अभाव में मानव-मन के स्वाभाविक, दुर्बलता-जनित भय और कुसंस्कारों को लेकर खिलवाड़ शुरू हुआ। राशि-राशि कुप्रथायें पुंजीभूत हो उठीं। साँपों और भूतों की पूजा बहुत

पुरानी है और बहुत दिनों से चलती आई है। ग्रह-नक्षत्रों के साथ अपना सम्बन्ध मनुष्य ने कब जाना, यह तो ज्ञात नहीं; लेकिन इतना सत्य है कि उनसे आदिम कृषकों ने दिशा और ऋतु जानने की सहायता प्राप्त कर, उन्हें भी देवता मानकर पूजना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार देवताओं की संख्या में नित्यप्रति वृद्धि होने लगी।

आदिम मानव के विचार कहीं लेख-बद्ध नहीं हैं, अतएव उनके अध्ययन में हमें बहुत कुछ कल्पनाओं और अनुमानों पर ही निर्भर करना होता है। फिर भी आधुनिक वैज्ञानिकों ने मनोविश्लेषण-शास्त्र (Psycho-Analysis) का आविष्कार करके आदि मानव के मानसिक भावों तक पहुँचने का पर्याप्त साधन जुटा दिया है। उक्त शास्त्र इस बात का विश्लेषण करता है कि बालक का 'अहम्' और मनोविकार किस प्रकार सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार रोका, दबाया और बदला जा सकता है। आदिम मानव की विचार-धारा जानने में उन असभ्य जातियों के विचारों और आचार-व्यवहार का विश्लेषण करने से भी पर्याप्त सहायता मिली है, जो संसार में कई जगह आज भी मौजूद हैं।

आदिमानव-सभ्यता का विकास

हम देखते हैं कि एक देश के आदमियों की रूपरेखा दूसरे देश के आदमियों से भिन्न होती है। इसका कारण क्या है? हम यह भी जानते हैं कि इस भिन्नता के आधार पर ही इस पृथ्वी पर अनेक अत्याचार हुए हैं। आज भी अमरीका में वहाँ के गोरे अधिवासी काले अधिवासियों को अकारण ही जलाकर मार डालते हैं, गरम अलकतरे में फेंक देते हैं, शहर के किसी होटल या काफ़े में नहीं घुसने देते। कारण केवल इतना ही है कि उनके रंग-रूप की रचना भिन्न प्रकार की है। यह ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता कि यह भिन्नता किस प्रकार पैदा हुई; मनुष्य पहले-पहल विभिन्न देशों में विभिन्न शक्लों में अवतरित हुए अथवा पहले सभी एक ही प्रकार के थे और बाद को सहस्रों वर्षों तक ठंढे और गर्म भूभागों में रहने के कारण गोरे और काले हो गये।

गोरी नस्ल का विश्वास है कि रंगों की यह विषमता आदि से ही रही है। संभव है यह बात सही भी हो और संभव है इसलिए भी कही जाती हो कि काले और अपेक्षाकृत कम सभ्य या बाद को सभ्य हुए लोगों के साथ अपनी आत्मीयता स्वीकार करने में उनका आत्माभिमान कुंठित होता हो।

जो भी हो, प्राप्त चिह्नों से यह स्पष्ट ह कि आज से पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व मनुष्य पृथ्वी के सभी उष्ण एवं जलपूरित भागों में फैल चुके थे। चिह्नों से यह भी प्रकट होता है कि उस समय भी मनुष्य मनुष्य में कितनी ही स्पष्ट विभिन्नतायें थीं। वही सब विभिन्नतायें नाना देशों में, नाना प्रकार की जल-वायु और स्थान-परिवर्त्तन के कारण आज खूब उभर आई हैं। उक्त कारणों से ही आज हम कहीं योरपीयों जैसे श्वेताङ्ग, कहीं मङ्गोलों जैसे चपटी नाकवाले, पीत एवं ताम्रवर्ण के और कहीं कड़े बालोंवाले काले रंग के विभिन्न रूपों के मनुष्य देख पाते हैं। बहुत सम्भव है कि पहले मनुष्यों का जन्म एक ही स्थान पर हुआ हो और बाद को धीरे-धीरे भिन्न-भिन्न भूभागों में जाने और विभिन्न जलवायु में रहने के कारण उनकी आकृति-प्रकृति अपनी जाति से पूर्णतः भिन्न हो गई हो। यह भी हो सकता है कि एक ही समय पृथ्वी के समस्त देशों में थोड़े-थोड़े मनुष्य अवतरित हुए हों फिर बाद को कुछ ने स्थान-परिवर्त्तन किये हों, अन्य देशों के मनुष्यों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके आपस में बहुत कुछ घुल मिल गये हों और समुद्र, पर्वत आदि अनुल्लंघनीय व्यवधानों के कारण कई एक सम्प्रदायों के अधिकांश मनुष्य अविकृत भी रह गये हों। कौन सी बात सही या ग़लत है यह जान सकना शायद कभी संभव न होगा। यदि संभव भी हो तो अभी बहुत दिनों के शोध और साधना के बाद ही जान सकेंगे।

अस्तु, जो कई एक बड़े-बड़े मानव-सम्प्रदाय कुछ दिनों में बड़े स्थानों पर एकत्र होकर रहने और बढ़ने लगे, उन्होंने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार जीवनयापन की पद्धति को भी सुसंस्कृत बना लिया। भूमध्यसागर और पश्चिमी एशिया के जो मानव-सम्प्रदाय धीरे-धीरे योरप, मिस्र, चीन, भारतवर्ष, इतना ही क्यों बेहरिंग समुद्रग्रीव के रास्ते (जो तब संभवतः थलसंयोजक था) अमरीका तक गये, उन्होंने थोड़े

दिनों बाद अपनी एक नई सभ्यता का निर्माण किया। उक्त सभ्यता को वैज्ञानिक भाषा में इलियट स्मिथ और रिवर्स जैसे विद्वानों ने सौर्य-पाषाणी-संस्कृति (Helio-lethic Culture) नाम दिया है। इस सभ्यता का कुछ विवरण जो विद्वानों ने दिया है वह यह है कि तब काफ़ी व्यवस्थित रूप में खेती होने लगी थी, घर-द्वार, मन्दिर आदि बनाना लोग सीख गये थे और न केवल गाँव बल्कि मिट्टी की प्राचीरों से घिरे छोटे-छोटे नगर भी बन गये थे। इनमें मृत शरीर की रक्षा करने की पद्धति भी थी, गुदना गुदाने और ख़तना कराने की चाल भी थी। इसके अतिरिक्त उस सभ्यता के मनुष्यों की कई आदतें और संस्कार ऐसे थे, जिनके पंडितों ने कई प्रकार के अर्थ लगाये हैं, जैसे, लोग सूच्याकार महान् शिखर और ऊँचे-ऊँचे टीले बनाया करते थे। साधारण पाठक इस प्रथा का कोई भी अर्थ या उद्देश्य जान-समझ सकने में असमर्थ ही रहेगा, किन्तु पंडितों ने अनुमान लगाया है कि शायद इन चीज़ों से तत्कालीन जिज्ञासुओं को, जो साधारणतया पुरोहितश्रेणी के लोग होते थे, ज्योतिष-सम्बन्धी निरीक्षण-कार्य में सहायता मिलती होगी।

बैहरिङ्ग के मार्ग से मनुष्यों का जो दल अमेरिका में जाकर रहने लगा वह धीरे-धीरे दक्षिण-अमेरिका तक फैल गया। उसे बहुत दिनों तक आदिम असभ्य जीवन-प्रणाली को ही अपनाकर रहना पड़ा। किन्तु बाद को अमेरिका के मैक्सिको, युकेटेन और पेरू आदि देशों में एक अद्-भुत सभ्यता का प्रारम्भ हुआ, जो यद्यपि एशिया की प्राचीन संस्कृति से कुछ-कुछ मिलती थी, फिर भी पूर्णतया पृथक् एवं नवीन थी। ये प्रदेश पुरोहितों-द्वारा शासित धर्म-राज्य हो रहे थे। इनके युद्ध-नेताओं और शासकों को धार्मिक नियमों और शकुनों-अपशकुनों के कड़े बन्धनों में रहना होता था। इस सभ्यता को विद्वानों ने 'मय' सभ्यता कहा है। इन लोगों ने बड़े-बड़े मन्दिर तैयार किये थे, जिनके सौन्दर्य और रचना-प्रणाली को देखकर हम आज भी दाँतों तले अँगुली दबाते हैं। ये लोग लिखना भी जानते थे। केवल दीवारों की सतह पर या पत्थरों के ऊपर खुदाई करके नहीं, बल्कि चमड़े को काग़ज़ की तरह बनाकर (आजकल के पार्चमेंट या दस्तावेज़ी काग़ज़ों के ढंग का) उसके ऊपर ये लोग लिखते

थे। इनके प्राचीन स्मृति-चिह्नों से हमें इसका पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि इनके पुरोहितों या धर्मगुरुओं ने ज्योतिष-शास्त्र में असाधारण पाण्डित्य प्राप्त कर लिया था। बलि देने की प्रथा को ये लोग अत्यन्त साधारण भाव से देखते थे और जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि सबका बलि उचित समझा जाता था। इन लोगों की स्थापत्य एवं शिल्प-कला को देखकर आजकल का दर्शक दंग रह जाता है। उसकी बहुरूपता और जटिलता देखकर दर्शक एक बार घबड़ा-सा जाता है । प्राचीन संसार की कोई और कला इसके समकक्ष नहीं पहुँच पाती है; हाँ, इसकी तुलना पुरातन भारतीय शिल्प-कला से किसी प्रकार की जा सकती है। 'मय' कला में सर्वत्र साँपों और परों का सम्मिश्रण पाया जाता है, ये चिह्न दक्षिण-भारत की द्राविड़ सभ्यता में भी बहुतायत से मिलते हैं । आज भी वहाँ उनकी पूजा होती है।

सम्भवतः इसी कारण कुछ लोगों का अनुमान है कि 'मय' संस्कृति के साथ हमारी संस्कृति का कुछ सम्बन्ध है, यद्यपि हमारे देश के प्रमुख विद्वान् स्व० डा० काशीप्रसाद जायसवाल, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि इसे स्वीकार नहीं करते।

सुमेरिया और प्राचीन मिस्र की सभ्यता

मनुष्य पृथ्वी के प्रत्येक भाग में फैल तो गये, किन्तु उन सभी मनुष्यों में पश्चिमी एशिया के निवासी सभ्यता और संस्कृति की दौड़ में सबसे आगे बढ़ गये। आज से आठ-नौ हज़ार वर्ष पहले आधुनिक तुर्किस्तान, अरब और फ़ारस तथा मिस्र देश में बड़े-बड़े नगर और बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी हो चुकी थीं । पहले कहा जा चुका है कि योरपीय विद्वानों ने ही पृथ्वी के इतिहास पर विशद गवेषणा की है और उन्हें अन्य देशों के इतिहास पर विचार करने की पर्याप्त सुविधायें नहीं प्राप्त हो सकी हैं, अतएव वे अन्य देशों के प्रति न्याय करने में समर्थ नहीं हुए हैं। भारतवर्ष भी उस प्राचीन सभ्यता के इतिहास में मिस्र, बैबिलोनिया आदि से कुछ ही पीछे था। उक्त योरपीय विद्वानों के मतानुसार भारत की सभ्यता उक्त देशों की सभ्यता से बहुत बाद की चीज़ है, किन्तु

आज मोहन-जो-दड़ो, हरप्पा आदि स्थानों की खुदाई से प्रमाणित हो गया है कि आज से कम से कम छः-सात हज़ार वर्ष पहले भारतवर्ष के पश्चिमी भाग में एक सुव्यवस्थित संस्कृति स्थापित हो चुकी थी।

उन दिनों आधुनिक फ़ारस की दो नदियाँ--दजला और फ़रात अलग-अलग से आकर फ़ारस की खाड़ी में समुद्र से मिलती थीं। आज की तरह वे समुद्र में गिरने से पहले ही आपस में नहीं मिल जाती थीं। इन दो नदियों के बीच की उर्वरा भूमि को सुमेर प्रदेश कहते थे। पाश्चात्य पंडितों की राय है कि सामाजिक सभ्यता का उद्भव यहीं हुआ था। ठीक तरह से निश्चय न हो सकने पर भी लगभग सभी पंडितों ने मान लिया है कि मिस्र देश के महान् इतिहास का प्रारम्भ भी लगभग इसी समय हुआ था, यद्यपि चीन और भारत का भी दावा है कि उनकी सामाजिक सभ्यता किसी से कम पुरानी नहीं है।

सुमेरियन लोगों का रङ्ग हम लोगों से थोड़ा और गोरा या गेहुँआ था। उनके शरीर की गठन मैसोपोटामिया के आधुनिक निवासियों जैसी थी। ये लोग धातु का व्यवहार करना जानते थे, धूप में सुखाई गई ईंटों से बड़ी-बड़ी दीवारें तैयार करते थे और महीन मिट्टी की स्लेटों जैसी पट्टियाँ बनाकर उस पर लिखा करते थे। ये लोग गाय, भेड़ें और गधे आदि घरेलू जानवर पालते थे तथा पशु-चर्म की ढाल तथा बर्छे लेकर युद्ध भी करते थे। इन लोगों ने अनेक बड़े नगरों का निर्माण किया था। ये नगर बहुधा स्वतंत्र होते थे और इनमें प्रत्येक का अलग पुरोहित और देवता होता था, किन्तु कोई-कोई नगर अन्य नगरों पर आधिपत्य स्थापित करके साम्राज्य स्थापित करने की भी चेष्टा करता था।

सुमेरिया से कई लेखन-पद्धतियाँ भी उत्पन्न हुई थीं, किन्तु मिट्टी के ऊपर लकड़ी की नोकीली क़लमों से लिखे जाने के फलस्वरूप उनमें का बहुत कुछ आज नष्ट होगया है। केवल मिस्र की ही लेखन-पद्धति इतने दिनों बाद भी कुछ-कुछ बची हुई है, क्योंकि वहाँ दीवारों पर और पैपाइरस की छाल पर (जो संसार का सर्वप्रथम कागज़ था) रंगों से लिखने की प्रथा थी। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि इस लिखने का

अर्थ वर्णमाला का व्यवहार कदापि नहीं है। आदिमानव के चित्राङ्कण के प्रयासों से हम यह समझ सकते हैं कि प्रथम मानव के जन्म के साथ ही साथ लिखने की इच्छा भी अपने आप ही पैदा हुई थी। शिकार या युद्ध की घटनाओं को चित्रों में अङ्कित करने की क्रिया को हम निश्चय ही लिखने की चेष्टा कह सकते हैं। पहले इसी तरह काम चलता रहा, फिर बाद में सुमेरियनों के समय में थोड़ी और उन्नति हुई । कहा जा सकता है कि किसी घटना का पूरा चित्र न अङ्कित करके इङ्गित से समझाने की चेष्टा करना ही वर्णमाला का प्रथम आभास था। जैसे किसी का घंटाकर्ण नाम हो और एक घंटा तथा एक कान अंकित करके उसका बोध कराने की चेष्टा की जाय। आजकल भी बच्चों को इस तरह पढ़ना अत्यन्त प्रिय होता है। इसी तरह एलिज़ियन मानव अक्सर मनुष्य का बोध कराने के लिए एक सीधी रेखा तथा एक या दो आड़ी रेखायें बनाया करते थे, जिनके नमूने चट्टानों में पाये गये हैं।

इसी प्रकार होते होते मिस्र के लोगों ने इस विज्ञान को और भी उन्नत बनाया। उन लोगों ने एक-एक वस्तुओं के लिए एक-एक चिह्न का व्यवहार करना प्रारम्भ किया । जैसे-जैसे समय बीतता गया, मनुष्य उक्त लेखन-पद्धति के आधार पर चलकर उसे और भी सहज बनाता गया। वस्तुओं के चिह्न बनाने से आगे बढ़कर मनुष्य ने शब्दों के चिह्न बनाने शुरू किये और क्रमशः इसी प्रकार अक्षरों अथवा वर्णमाला की सृष्टि हो गई। शब्दों के बदले चिह्न बनाकर लिखने की परिपाटी आज भी हमारे पड़ोसी चीन और जापान-निवासियों में प्रचलित है। वर्णमाला के विकास का श्रेय सुमेरियनों की सूच्याकार लेखन-प्रणाली तथा मिस्र-वालों की चित्रमय पद्धति के सम्मिश्रण को दिया जाता है। ऐसी ही मिश्रित-सी चीज़ आधुनिक चीन की लेखन-प्रथा है, जिसका विकास वर्णमाला के रूप में अभी तक नहीं हो पाया है।

मोटे तौर पर लेखन-प्रणाली का इतिहास तो हम बहुत कुछ जानते हैं, किन्तु भाषा का इतिहास एकदम अज्ञात है । अनुमान लगाकर यह समझा जाता है कि पहले मनुष्य भी अन्य जीवों की तरह केवल शब्द कर सकते थे, बातचीत नहीं कर सकते थे। बातें इङ्गित से समझाई जाती

थीं। उन इङ्गितों में शब्दों का सम्मिश्रण होकर कई वस्तुओं के नाम बन गये, यानी किसी विशेष वस्तु को एक विशेष शब्द-द्वारा समझाने की परिपाटी चली। इसी तरह धीरे-धीरे विशेष वस्तुओं का बोध करानेवाले शब्दों की संख्या भी बढ़ चली। शब्दों की वृद्धि से विशेष असुविधा न हो; इसी लिए अब से कुछ ही समय पहले तक अधिकांश भाषाओं में प्रचलित शब्दों की संख्या मोटे तौर पर एक हज़ार से भी कम थी। आज भी लगभग सभी देशों के ग्राम-समाजों में शब्दों की संख्या हज़ार के भीतर ही मिलती है।

यह तो हुआ साधारण शब्दों अथवा बातचीत का इतिहास, किन्तु विभिन्न भाषाओं की सृष्टि किस प्रकार हुई? इतिहास इस सम्बन्ध में मौन है। अनुमान के आधार पर पंडितों का कहना है कि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ से ही मनुष्यों के दो-तीन प्रमुख केन्द्रों से दो-तीन मूल भाषाओं का जन्म हुआ होगा। बाद को उन्हीं की सन्तानें चारों ओर बिखर गईं। एक ही भाषा से पृथ्वी की विभिन्न भाषाओं का जन्म सम्भव नहीं है, तब भी बहुत-सी भाषायें आपस में कुछ-कुछ मिलती-जुलती-सी हैं। इसी आधार पर हमने दो-तीन भाषा-विभागों का अनुमान कर लिया है।

लिखने का कौशल प्राप्त करने के साथ ही साथ मनुष्य ने अन्य अनेक योग्यतायें प्राप्त कर लीं। क़ानून, धर्मानुशासन, इक़रारनामे आदि के लिखे जाने की सुविधा हो जाने से जीवन-निर्वाह काफ़ी सरल हो गया। यही नहीं, राज्यों का छोटे-छोटे नगरों में सीमित न रहकर बाहर फैलने का श्रेय इसी विज्ञान को है। क्योंकि राजा अथवा धर्मगुरु के अपने ही अक्षरों में लिखे आदेशों का देश-देशान्तरों में ले जाया जाना सम्भव हो गया। सुमेरिया में सील-मोहर करने का चलन था। मिट्टी की पट्टियों पर मोहर लगाकर उसे सुखाकर उसे शर्तनामे आदि की तरह सुरक्षित रक्खा जाता था। मेसोपोटामिया में इस तरह की बातें बहुत दिनों तक चलती रहीं।

इस प्रकार लिखने की विभिन्न क्रियाओं-द्वारा निर्मित इतिहास से हम बहुत कुछ जान सकते हैं। सुमेरिया और मिस्र में सोना, ताँबा, चाँदी

और किसीक़दर लोहे का व्यवहार भी प्रचलित था। उन दिनों पृथ्वी के उक्त भू-भागों के छोटे-छोटे नागरिक राज्यों का जीवन प्राय: एक जैसा ही था। उनमें धर्मगुरु ही प्रधान होते थे। वही तिथि-वार की व्यवस्था देते, कृषि-कर्म में परामर्श देते, स्वप्नों के अर्थ और व्याख्या करते, भविष्य-वाणी करते एवं क़ानून-नियम आदि बनाते थे। धीरे-धीरे राजा अथवा शासक की भी सृष्टि हुई। किन्तु इन धर्मगुरुओं की, उनके होने अथवा न होने से, कोई क्षति नहीं हुई। कृषि-कर्म के लिए पर्याप्त खेत थे और खाद्य-पदार्थ भी यथेष्ट होते थे। रुपया नहीं था और न उसकी आवश्यकता ही थी। साधारणतया मनुष्य की आवश्यकतायें विनिमय (Barter) द्वारा पूरी हो जाती थीं। जैसे आटा के बदले दाल अथवा दाल के बदले कपड़ा आदि प्राप्त कर लेने का ढंग था। आवश्यकताओं के अनुसार ही उनका कर्म-जीवन संचालित होता था, उसमें कहीं कोई जटिलता नहीं थी।

सुमेरिया में पुरोहित ही सर्वोच्च शासक समझा जाता था। इसके विपरीत मिस्र में पुरोहित से भी बड़ा एक और व्यक्ति होता था; जिसे लोग देवता का अवतार समझते थे। उसे 'फ़राओ' अर्थात् दैवीराजा कहा जाता था। ये दैवीराजा अधिकांश क्षेत्रों में अपने राज्य से ही सन्तुष्ट रहा करते थे, किन्तु कुछ ने राज्य-विस्तार के लिए रण-यात्रायें भी की थीं; और कुछ ने अपने को इस मृत्यु-लोक में अमर बनाने के लिए विशालकाय सूच्याकार समाधियाँ बनवाई थीं, जिन्हें 'पिरामिड' कहते हैं। ये समाधियाँ ४५० फ़ीट तक ऊँची हैं और उनमें लगे पत्थरों का वज़न ४८ लाख, ८३ हज़ार टन (एक टन २८ मन) है। ये सब सहस्रों वर्षों का समय काटकर आज भी मनुष्य की असीम श्रम-शीलता के साक्षी-स्वरूप वर्तमान हैं।

आदिम ख़ानाबदोश जातियाँ

इस बीच में सुमेरिया और मिस्र के अतिरिक्त भी आस-पास के अनेक राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। जहाँ कहीं जल की प्रचुरता और सुविधा-पूर्वक अन्न मिल जाने की सम्भावना होती वहीं मनुष्य अपना शिकारी

और ख़ानाबदोशी का जीवन त्यागकर स्थायी रूप से गाँव बसाने लगे थे। फिर भी इन उर्वरा भू-खण्डों के बाहर बहुत से ऐसे आदमी रहते थे जिनके निश्चित घर-बार नहीं थे, और जो अपनी सुविधा के विचार से इधर से उधर फिरा करते थे। वे जब और जहाँ खाने-पीने और शिकार पाने की सुविधा देखते वहीं बस जाते थे और जब शिकार योग्य पशुओं का अभाव देखते तो दूसरे भू-भागों की ओर चल पड़ते थे। फलस्वरूप ये लोग एक ओर तो कृषि जैसे श्रम-साध्य काम को नहीं कर सकते थे लेकिन दूसरी ओर नित्यप्रति घूमते रहने से ख़ूब कष्टसहिष्णु बन गये थे। क्रमशः अरब और मध्य एशिया की इन ख़ानाबदोश जातियों ने उन लोगों के घरों पर धावा मारना शुरू कर दिया जो सुखपूर्वक घर बसाकर स्वच्छन्द रूप से रहने लगे थे। सुमेरिया, असीरिया आदि स्थापित राज्यों पर अधिकार जमाकर रहते-रहते एक दिन वे पूरी तरह उन्हीं लोगों में घुल-मिल भी गये। मिस्र भी इनके आक्रमणों से बचा नहीं रह सका। मिस्र के 'फ़राओ' को राज्यच्युत कर इन्होंने वहाँ बहुत दिनों तक राज्य किया, यद्यपि मिस्रवालों को अपने में मिला-खपा लेने में ये असमर्थ ही रहे।

भारत और चीन भी इनके हाथों से रक्षित नहीं रह सके। जब सुमेर अथवा मिस्र में पहले छोटे-छोटे नागरिक राज्य स्थापित हुए थे तभी भारतवर्ष और चीन में भी किसी और मानव-सम्प्रदाय ने गाँवों और नगरों की रचना की थी। मध्य-एशिया के ख़ानाबदोश लोग पर्वतीय मार्गों का अतिक्रमण करके वहाँ भी आ उपस्थित हुए थे। कालान्तर में उन्होंने वहाँ भी आदिम अधिवासियों में मिलकर एक नवीन संस्कृति की रचना कर डाली। हमारे यहाँ के भुटियों आदि के पूर्व-पुरुष एवं द्रविड़ लोग भी इन्हीं नवागन्तुकों में से हैं। किन्तु भारत के द्रविड़ अपने समकालीन पड़ोसियों से बहुत अधिक सभ्य थे। कम से कम उनके दुर्गों, उनकी सड़कों और उनकी इमारतों आदि की बात जानकर तो ऐसा ही प्रतीत होता है।

पहले व्यवस्थित साम्राज्यों की कल्पना भी इन्हीं ख़ानाबदोश लोगों ने की। आज से लगभग पाँच हज़ार वर्ष पूर्व अरब देश की एक ख़ानाबदोश जाति ने 'सारगन' नामक अपने महान् नेता के नेतृत्व में भूमध्य सागर

से फ़ारस की खाड़ी तक के समस्त भू-खंड को जीतकर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। बैबिलन के शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना में भी इसी प्रकार एक ख़ानाबदोश-सम्प्रदाय का हाथ था। पश्चिम एशिया के उक्त मानव-सम्प्रदाय ने, जिसे पंडितों ने सैमेटिक कहा है, केवल विशाल साम्राज्यों की स्थापना करके ही सन्तोष नहीं कर लिया, बल्कि उन्होंने समुद्रों की भी यात्रा करनी शुरू कर दी। वैसे मनुष्य की जल-यात्रा करने की चेष्टा जब वह कन्दराओं का निवासी था तब से चली आती है। पहले लकड़ी के लट्ठों या फूली हुई खाल के सहारे, फिर नाना प्रकार की छोटी-बड़ी नावों के द्वारा और फिर आधुनिक विराट्काय जहाज़ों के द्वारा उक्त चेष्टा कार्यरूप में सतत परिणत होती आई है। आज से लगभग नौ हज़ार वर्ष पहले, पिरामिडों के बनने से भी बहुत पहले, फ़ारस की खाड़ी में जहाज़ चलते थे। हो सकता है वे जहाज़ आधुनिक जहाज़ों की तुलना में बड़ी नावें ही हों। पहले तो जहाज़ निश्चय ही मछुओं के उपयोग की चीज़ रही होगी, फिर उसका उपयोग व्यापार-वाणिज्य के लिए हुआ होगा; किन्तु इन सेमेटिक लोगों ने डाका डालने और साम्राज्य-जय करने में भी उनका उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार समुद्रों के किनारे-किनारे बन्दरगाहों की उत्पत्ति हो गई और छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये। भूमध्य सागर के पूर्वी किनारे पर ही इनकी संख्या अधिक थी। ये समुद्रगामी सेमेटिक लोग फ़िनिशियन कहलाते थे। ये फ़िनिशियन साधारण लोग नहीं थे, इसे हम आगे चलकर जानेंगे। इनका बसाया कार्थेज नगर अपने प्रताप के कारण किसी ज़माने में पृथ्वी पर प्रमुख स्थान रखता था।

केवल सेमेटिक अथवा फ़िनिशियन लोगों ने ही भूमध्य सागर के किनारे नगरों या राज्यों की स्थापना नहीं की थी। उनके अभ्युदय के पहले भी इस समुद्र के किनारों और द्वीपों में बहुत से छोटे-बड़े नगर आबाद थे, जिनको ऐसी जाति या जातियों ने बसाया था जो बाह्यरूप से बास्क और दक्षिण के बर्बर और मिस्रवासियों से रक्त और भाषा-द्वारा सम्बन्धित थीं। ये जातियाँ 'ईजियन' कहलाती थीं। ये यूनानियों से भिन्न थीं। यूनानियों का प्रादुर्भाव यद्यपि बहुत बाद में हुआ है,

फिर भी ईजियनों को प्राक् यूनानी कहा जा सकता है। इन्होंने यूनान और एशियाई कोचक में ट्राय और माइसीनी जैसे प्रख्यात नगर बसाये थे। क्रीटद्वीप में नोसस नाम का भी एक विशाल और समृद्धिशाली नगर इन लोगों ने स्थापित किया था। उक्त नगर के ध्वंसावशेष को, जो आज खुदाई में मिट्टी के नीचे से निकला है, देखने से पता चलता है कि कभी वहाँ के अधिवासी बड़े कुशल रहे होंगे और उन्होंने शिल्प, वाणिज्य और कृषि में खूब उन्नति कर ली होगी। उनके व्यापारी जहाज़ एक महादेश से दूसरे महादेश को आते-जाते रहते थे। क्रीट द्वीप और मिस्र देश से व्यवस्थितरूप में वाणिज्य होता था।

इनके आचार-व्यवहार भी सभ्य जातियों की तरह थे। नोसस के विपुल प्रासाद और वहाँ की व्यवहृत वस्तुओं को देखकर हमें आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ता है। किन्तु आज तक यह निर्णय नहीं हो सका है कि इतनी विशाल राजधानी किस प्रकार भूमिसात् हो गई। सम्भव है किसी प्रबल भूकम्प के धक्के से वह गिरकर धँस गई हो, अन्यथा परवर्ती युग में ग्रीकों ने आकर लूट-पाट करके तोड़-फोड़ आग लगाकर उसे नष्ट कर दिया हो। यह भी सम्भव है कि दोनों प्रकार की विपत्तियाँ इस नगर पर आई हों।

चौथा प्रकरण

प्राचीन भारत

जिस समय एक ओर पूर्व वर्णित राज्यों के रूप में इतिहास के विचित्र उपादानों की रचना हो रही थी, उसी समय दूसरी ओर भारतवर्ष में एक और विचित्र इतिहास बन चुका था। किन्तु दुःख की बात है कि उस इतिहास का अधिकांश आज हमारे लिए अज्ञात है। इसका पहला कारण यह है कि तब के लोग इतिहास लिखकर रखने की सार्थकता को नहीं समझते थे। इसके अतिरिक्त लिखने का अभ्यास भी बहुत कम था। यही नहीं, उसके बाद के युग में रचे गये महाकाव्य तक बहुत दिनों तक लिपि-बद्ध नहीं हुए थे। एक दूसरे से सुनकर याद कर लेते थे और इसी प्रकार क्रम आगे चलता रहता था। पर इससे एक हानि हुई, बहुत पुस्तकों का पाठ ही बदल गया। क्योंकि सभी मनुष्यों की स्मरण-शक्ति एक-सी नहीं होती।

लिखित विवरणों के अतिरिक्त इतिहास का अध्ययन करने के लिए जिन अन्य उपादानों का प्रयोग किया जाता है, वे हैं प्राचीन काल के घर-बार, पुराने राजमहलों के ध्वंसावशेष, पुराने ग्रन्थ, सिक्के और मठ-मन्दिर आदि। किन्तु भारतवर्ष, चतुर्दिक् से प्राकृतिक प्राचीरों से घिरा हुआ होने पर भी इतनी बार बाहर के लोग यहाँ आये हैं और प्रतिबार नवागन्तुकों ने पुरानी संस्कृति के चिह्नों तक को तोड़-फोड़-कर इस तरह नष्ट कर देने की चेष्टा की है कि उक्त ऐतिहासिक उपकरणों का भी अक्षुण्ण रह सकना सम्भव नहीं हो सका है। यहाँ द्राविड़ों के पूर्वपुरुष, आर्य और मङ्गोल पूर्व-उत्तर के मार्ग से आये और शक, हूण, पठान, मुग़ल आदि उत्तर-पश्चिम के पर्वत-पथ का अतिक्रमण करके आये। इस प्रकार यहाँ बार-बार विदेशियों का आना हुआ है।

इस स्वर्ण-प्रसू स्वप्न-राज्य को बार-बार लुण्ठित होना पड़ा है और इसी लिए हमारे प्राचीन इतिहास के धारावाहिक चिह्नों का पाया जाना असम्भव है। केवल बुद्ध के समय, अर्थात् आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले के अनेक ऐतिहासिक उपादान हमें उपलब्ध हैं। उसके पहले के इतिहास के लिए हमें पुराणों, रामायण अथवा महाभारत आदि महाकाव्यों के ऊपर ही निर्भर करना होता है; किन्तु उनमें भी कितनी काव्य-कल्पना और कितना ऐतिहासिक सत्य है, यह कह सकना कठिन है। फिर भी सुसंस्कृत प्राचीन भारतीय जाति का इतिहास गौरवमय था, इसमें सन्देह नहीं है।

हमारे देश में पत्थर आदि के जो प्राचीन काल के हथियार पाये गये हैं; उन्हें हम आर्यों की चीज़ कहकर नहीं ग्रहण कर सकते; क्योंकि वे लोग जब इस देश में आये तब उनमें एक साहित्य का प्रादुर्भाव हो चुका था, जिससे हमें पता चलता है कि वे कृषि का ज्ञान रखते थे और धातुओं आदि का प्रयोग भी जानते थे। अब प्रश्न यह होता है कि तब इन पाये जानेवाले पत्थर आदि के हथियारों का प्रयोग करनेवाले किस मानव-सम्प्रदाय के लोग थे? निश्चयपूर्वक तो इस विषय में कुछ भी कह सकना अब तक सम्भव नहीं हो पाया है; किन्तु विद्वानों का अनुमान है कि वे प्राचीन द्राविड़ अथवा मुंड जाति के लोग थे। या हो सकता है वह कोई और भी भिन्न जाति रही हो। लेकिन इतना साफ़ ही प्रकट होता है कि वे आदिम जातियाँ आर्यों के आने पर सघन जङ्गलों की ओर भाग गईं, नष्ट हो गईं और कुछ थोड़ी आर्यों में मिल-जुल भी गईं।

जिस प्रकार हम पहले देख चुके हैं कि दजला और फ़रात नदियों के काँटें में एवं मिस्र की नील नदी के काँटे में एक समुन्नत सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ था, वैसे ही और लगभग उसी समय हमारे गंगा-जमुना और सिन्ध-सतलज के काँटे में भी एक विकसित सभ्यता उठ खड़ी हुई थी।

हाल में सिन्ध प्रान्त स्थित मोहन-जो-दड़ो नामक स्थान की खुदाई में जो ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं, वे निश्चय ही एक उन्नत सभ्यता के अवशेष हैं। उनसे पता चलता है कि उस स्थान पर एक समृद्धिशाली नगर था,

जिसकी इमारतें ईंट और पत्थरों से निर्मित थीं और उस नगर में मकान, नालियाँ , गलियाँ और बाज़ार आदि सभी कुछ क़रीने और सिलसिले से बने हुए थे। अवशेषों से यह भी जान पड़ता है कि उक्त नगर के लोग खेती करना, धातुओं का इस्तेमाल करना, कपास से कपड़े तैयार करना और लिखना आदि भी जानते थे । मोहन-जो-दड़ो के खँडहरों में तौलने आदि के बाट भी पाये गये हैं, जिससे पता चलता है कि वहाँ का व्यापार-विनिमय भी सुव्यवस्थित ढंग का था । इतिहास-शोधकों का अनुमान है कि वह नगर लगभग पाँच हज़ार वर्ष का पुराना है।

उक्त प्रकार के ही अवशेष हरप्पा (ज़िला मान्टगुमरी) और नाल (बिलोचिस्तान) में भी पाये गये हैं। हमारे आश्चर्य और प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रह जाता, जब हम तुलना करके देखते हैं कि ये सभी अवशेष सुमेरिया में प्राप्त अवशेषों से बहुत कुछ समानता रखते हैं। इन सब बातों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि आज से पाँच हज़ार वर्ष पहले पश्चिमी एशिया से लेकर सिन्ध की तराइयों तक में एक ही प्रकार की सभ्यता प्रचलित थी । मोहन-जो-दड़ो में प्राप्त हुई बहुत-सी मुहरों आदि पर के लेख अभी पढ़े नहीं जा सके हैं, पढ़े जाने पर पता नहीं हमारे इतिहास पर क्या और कितना प्रकाश पड़ सके। अनुमान किया जाता है कि वहाँ की सभ्यता आर्यों ही की सभ्यता थी।

आर्यों के ब्योरेवार वृत्तान्तों की खोज के लिए हमारे पास केवल पुराणों का ही साधन है। यद्यपि आज उनमें अनेक कल्पित कहानियाँ उलझी हुई हैं; फिर भी पिछले चालीस वर्ष में इतिहास के शोधकों ने उनमें से ऐतिहासिक सत्यों को खोज निकालने की सराहनीय चेष्टा की है । पुराणों में आर्य-राज्यों के वृत्तान्तों से लेकर गुप्त राजाओं तक के वृत्तान्त भरे हैं । इनमें महाभारत के युद्ध का वृत्तान्त बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । अनुमान लगाया गया है कि उक्त युद्ध ईसा से प्रायः चौदह शताब्दी पहले हुआ था। बहुत-से लोगों का विचार है कि इससे भी बहुत पहले हमारा इतिहास शुरू हो गया था । किन्तु पुराणों के आधार पर हमारे इतिहास का आरम्भ पंडितों ने माना है, महाभारत से केवल १,५०० वर्ष पहले। पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार ने उसी आधार पर अनुमान लगाकर

राजा भरत का समय, जिनके नाम पर हमारा देश भारत कहलाता है, अन्दाज़न २,२५० ई० पूर्व कूता है और प्रसिद्ध श्री रामचन्द्र का समय १९०० ई० पू०।

आर्यों का आर्थिक जीवन पशुपालन और कृषि पर ही मुख्यतया अवलम्बित था। कृषि के लिए सिंचाई होती थी। उनके यहाँ 'निष्क' नामक एक सोने का सिक्का भी प्रचलित था। बढ़ईगिरी आदि थोड़े-से शिल्प भी उनमें प्रचलित थे। चमड़ा रँगना और ऊन आदि का कपड़ा बुनना भी इनमें प्रचलित था। वे लोग छोटे-छोटे समूह बनाकर रहते थे, जिनका ढाँचा बहुत कुछ परिवारों की तरह ही होता था। खाने में ये लोग दूध-दही, घी, अनाज और मांस का व्यवहार करते थे। जुआ खेलने का खूब व्यसन था। संगीत, वाद्य और नृत्य का भी प्रचार था। गाँव-गाँव के समूहों में खूब युद्ध होते थे। युद्धों में रथ व्यवहृत होते थे।

मिस्र, बैबिलन और ऐसीरिया के साम्राज्य

हम पहले वर्णन कर चुके हैं, सैमेटिक ख़ानाबदोशों ने मिस्र से 'फ़राओं' के राज्यों पर आधिपत्य जमाकर बहुत दिनों तक राज्य किया; किन्तु वे मिस्रवालों की चारित्रिक विशेषता का अन्त नहीं कर सके, अतएव उन्हें अपने में मिला नहीं सके। फल यह हुआ कि कुछ दिनों बाद मिस्रवालों ने खुले रूप में विद्रोह किया और उन्हें सम्पूर्ण रूप से प्रताड़ित कर दिया। उसके बाद जो मिस्र के राजा हुए उन्होंने साम्राज्य-विस्तार की ओर क़दम बढ़ाना शुरू किया और अपनी विशाल सेनायें तैयार कर डालीं। थौथनीज़ तृतीय और ऐमोनिफ़िज़ तृतीय के शासनकाल में मिस्र के साम्राज्य की सीमायें एक ओर वर्तमान सहारा प्रदेश तक और दूसरी ओर मेसोपोटामिया की यूफ़्रेटीज़ नदी तक जा पहुँची थीं। पुरातत्त्ववेत्ता इस नये युग को नवीन साम्राज्य-युग कहते हैं। उधर मेसोपोटामिया भी कम शक्तिशाली और कम उन्नत नहीं था। फलस्वरूप इन दोनों देशों में बहुत दिनों तक युद्ध चलते रहे। पंडित इसे सहस्रवर्षीय युद्ध कहते हैं। मिस्रवालों ने बैबिलनवालों को विजित करके मेसोपोटामिया के अधिकार से यद्यपि च्युत कर दिया था, फिर भी उनकी शक्ति मिस्रवालों से कम नहीं थी।

मिस्रवालों ने बहुत दिनों तक अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रक्खा, पर अक्सर बीच-बीच में कभी सीरिया के असुरों, कभी ऐसीरिया के निवासियों और कभी इथोपिया के हब्शियों द्वारा वे विजित हुए। इनमें से एक के बाद दूसरे विजय-पराजय का आनन्द लेते रहे और इस प्रकार यह द्वन्द्व बहुत दिनों तक चला किया। ऐसीरिया और बैबिलन की भी यही अवस्था थी। आज किसी का आधिपत्य स्थापित हो रहा है तो कल किसी का। इस बीच में युद्ध के अस्त्र-शस्त्रों और साज-सामानों की भी काफ़ी उन्नति हो चुकी थी। ऐसीरियावालों ने लोहे के हथियारों को उपयोग में लाना प्रारम्भ कर दिया था। युद्धों में घोड़ों की उपयोगिता का भी लोगों को पता मालूम हो गया था। फलस्वरूप इस बीच में जितने युद्ध हुए उन सबमें घोड़ों से चलनेवाले रथों का उपयोग पाया जाता है।

इन युद्धों में पहले मिस्र विजयी रहा। वहाँ के सत्रहवें और उन्नीसवें वंश के रैमेसेज़ द्वितीय के लम्बे शासन-काल में देश उन्नति के शिखर पर पहुँच गया था। किन्तु इस अर्से में सीरिया के असुरों और दक्षिण में अबीसीनिया के हब्शियों द्वारा विजित होकर उसे कई बार भयानक क्षतियाँ भी उठानी पड़ीं। उधर मेसोपोटामिया पर थोड़े दिनों के लिए बैबिलनवालों का और फिर दमिश्क के सीरियनों और हित्ति जाति का शासन स्थापित हो गया था। इसके साथ ही निम्नेवनिवासी असुरों का भी कभी उत्थान और कभी पतन होता रहता था।

बैबिलन की प्राचीन सभ्यता, उसके ऐश्वर्य और नागरिक जीवन की अनेक कथायें प्रचलित हैं। ऐसीरियावालों की, जिन्हें ही सम्भवतः हमारे पुराणों में असुर जाति कहा गया है, वीरता और युद्ध-कौशल के विवरण तथा मिस्रवालों के सम्बन्ध में सहस्र-सहस्र किंवदन्तियाँ सुनने को मिलती हैं। उनका इतिहास भी ख़ूब समृद्ध है, जिसको विस्तार के साथ बतलाने के लिए यहाँ अवसर नहीं है; फिर भी इतना कह देना आवश्यक है कि ज्ञान-विज्ञान अथवा शौर्य-वीर्य में वे चाहे जितने भी उन्नत रहे हों; लेकिन उस समय भी वे पुरोहितों-द्वारा ही शासित होते थे। विराट् मन्दिरों और देवालयों में राष्ट्रों के भाग्य बनते-बिगड़ते थे। यह सही है कि राज्य राजा करते थे, युद्ध राजा करते थे और सारा शासन-यन्त्र

वे ही चलाते थे; किन्तु फिर भी पुरोहितों के आदेश सर्व-शक्तिमान् होते थे, उनको अमान्य करने का साहस न राजा में था और न प्रजा में। जो राजा पुरोहितों को अपने वश में कर पाते थे वे ही निरापद होकर राज्य कर सकते थे। बहुधा पुरोहित लोग अपनी इच्छा को ईश्वरीय आदेश बतलाकर कार्यान्वित करते और कराते थे।

इस दस शताब्दियों के लम्बे समय के इतिहास में मिस्र बार-बार घटता-बढ़ता रहा। इस युग में हमको बैबिलन और ऐसीरिया, हित्ति और सीरिया के विविध सेमेटिक राज्यों का उत्थान-पतन दृष्टिगोचर होता है। एशिया माइनर के पश्चिम तरफ़ केनिया और लीडिया के ईजियन जाति के राज्यों का भी हमें परिचय मिलता है। इसी समय कैस्पियन और काले सागर की पूर्वोत्तर दिशा से 'मेद' और पारसी जातियों का प्रवेश जारी था। इनके अतिरिक्त आर्मेनियन जाति भी पूर्वोत्तर और पश्चिमोत्तर दिशाओं से आ रही थी। दूसरी तरफ़ बालकन प्रायद्वीप की राह यूनानियों की फ़्रिजियन आदि उपजातियाँ भी इतिहास में क़दम रख रही थीं। ये सभी नवागन्तुक प्राचीन आर्यों में से थे और शुरू में डाकुओं की भाँति लूट-मार करते थे। प्राचीन अधिवासी इनके उपद्रवों से तंग आकर इनकी पहुँच के बाहर अपनी बस्तियाँ बसाने लगे। उनमें से कुछ नील नदी की डेल्टा में बसे जहाँ उनकी मिस्रवालों से मुठभेड़ें हुईं। यह एक अजीब उथल-पुथल का समय था। ई० पू० १६०० से लगाकर ६०० तक वनों और बीहड़ स्थानों से निकलकर पुरातन सभ्यता के गढ़ में दस्युओं और ख़ानाबदोशों के रूप में आनेवाली आर्यों की विभिन्न उपजातियों ने संसार के इतिहास में एक विचित्र तहलक़ा मचा दिया था। इस युग के अन्तिम चरण में एक और जाति महत्त्व प्राप्त कर रही थी। यह जाति यहूदियों की थी, जो फ़िनिशियन और फ़िलिस्तीन के समुद्रतटों के पीछे पहाड़ियों में रहती थी। यह भी सेमेटिक समुदाय की ही एक शाखा थी। इन्होंने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण साहित्य हमारे इतिहास को प्रदान किया जिसका सामूहिक नाम इंजील है।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात हमें यह लगती है कि इस उथल-पुथल में भी, जब कि एक के बाद दूसरे वंश आते और क्षण भर बाद ही

विलीयमान हो जाते थे, मनुष्य की जीवनचर्या का क्रम निर्द्वन्द्व भाव से चलता रहा। कारनक और लक्सर के भव्य मन्दिर इसी समय के बने हैं। निर्नवा के प्रधान स्मारक मन्दिर और विभिन्न चित्रांकण इसी काल में निर्मित हुए थे । बैबिलन की अधिकांश विभूतियाँ भी इसी काल की बनी हैं ।

मेसोपोटामिया और मिस्र में पाये गये राजलेखों आदि से पता चलता है कि 'थीबिस' और बैबिलन जैसे नगरों का जीवन बड़ा ही सम्पन्न और विलासितामय था। इनके निवासी सुन्दर आभूषण आदि धारणकर आडम्बरपूर्वक पार्टियों आदि में शामिल होते थे और गान-वाद्य-नृत्य आदि से अपना मनोरंजन करते थे। नौका-विहार का चलन भी इन लोगों में खूब था।

प्राचीन चीन

भारत, मिस्र, बैबिलन, ऐसीरिया आदि जिस समय इस प्रकार सभ्यता की ओर अग्रसर हो रहे थे उसी समय इन देशों से सर्वथा विच्छिन्न और पृथक् रहकर भी एक और देश प्राचीन मानव-सभ्यता की लीला-भूमि बनता जा रहा था। यह देश था चीन। ह्वाङ्गहो और याङ्गटिसि-क्याङ्ग नदियों के दोनों किनारों पर कितने दिनों से राज्यों का संघटन हो चला था, इस सम्बन्ध में आज भी हमारे पास कोई ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नहीं है, जिसकी प्रामाणिकता पर भरोसा किया जा सके। तब भी होनान और मंचूरिया में पुरातत्त्व के पंडितों ने पृथ्वी की छाती चीरकर जो सारी चीज़ें निकाली हैं उनसे हम इतना तो समझ ही सकते हैं कि उक्त युग में भी वहाँ अनेक लोग वास करते थे और उतनी सभ्यता से वंचित और हीन वे भी नहीं थे जितनी उन दिनों प्रचलित थी। उनकी दैहिक गठन आधुनिक उत्तरी चीन के अधिवासियों की तरह थी। वे लोग गाँव बसाकर रहते थे और सूअर आदि जानवर भी पालते थे। पत्थरों के नाना विधि के अस्त्रों का प्रयोग भी इन्हें ज्ञात था। पथ की दुर्गमता के कारण, ऐसा अनुमान किया जाता है कि तत्कालीन अन्यान्य मानव-सभ्यताओं से इनका सम्पर्क नहीं था, अतएव बहुत दिनों तक चीन के

निवासियों का मध्य और पश्चिम एशियावालों से कोई सम्बन्ध-स्थापन नहीं हो सका।

पहले ही कहा जा चुका है कि चीन का प्राचीन इतिहास सम्पूर्णतया अन्धकार में है। हमें उसके अध्ययन में विवश होकर अनेकानेक अनुमानों का सहारा लेना पड़ता है। यद्यपि उत्तर चीन और टेरिम उपत्यका में ही हमें चीन की पहली बस्तियों के चिह्न मिलते हैं; फिर भी अनुमान से समझा जाता है कि दक्षिण चीन में भी मनुष्य रहते थे और वे भी धीरे-धीरे सभ्यता की ओर अग्रसर हो चुके थे। हो सकता है कि उनका सम्पर्क ब्रह्म और श्याम देश के लोगों से भी रहा हो ।

चीन के चारों ओर दुर्भेद्य प्राकृतिक घेरा होने के कारण उस पर बाहरी आक्रमण बहुत ही कम हुए। जो कुछ विवरण विदेशी हमलों के मिलते हैं उनसे पता चलता है कि वह उराल पर्वत की ओर से ही हुए थे। किन्तु हमारा विश्वास है कि चीन के निवासियों ने उन आक्रमणों का सफलतापूर्वक अवरोध किया था। आज से प्रायः पाँच हज़ार वर्ष पहले वहाँ के अत्यन्त शक्तिशाली सम्राटों की बात सुनी जाती है। उनके कार्य-कलाप विचित्र होते थे। ये सम्राट् शैङ्गवंशीय और चौ-वंशीय थे और मिस्र के सत्रहवें वंश के समकालीन थे। इन सम्राटों के अधीन छोटे-छोटे राजा हुआ करते थे, जो आपस में तो लड़ते-झगड़ते रहते ही थे, सम्राटों के लिए भी उन्हें नियंत्रण में रख सकना दुष्कर होता था। अनुमान लगाया जाता है कि उक्त वंशों के सम्राटों ने ई० पू० १७५० से २५० तक राज्य किया । इनके राजत्वकाल की जो कुछ छोटी-मोटी चीज़ें आज भी पाई जाती हैं उन्हें देखकर हम निस्सन्देह यह समझ पाते हैं कि उस समय उनके देश की संस्कृति खूब उन्नत हो चुकी थी।

किन्तु मूलतः इन सम्राटों में कई नाम-मात्र के ही सम्राट् थे। छोटे-छोटे राजाओं की संख्या अगणित थी। कहते हैं कि ई० पू० छठी शताब्दी में अथवा उसके लगभग चीन में कम से कम छः हज़ार छोटे-छोटे राजा थे और प्रायः दस-बारह छोटे-छोटे साम्राज्य थे। इन छोटे राजाओं को चौ-वंश के सम्राट् कभी पूर्णतः वश में नहीं कर सके । निरन्तर ये छोटे राजा लोग पारस्परिक विग्रहों और भीतरी विप्लवों में व्यस्त रहते

थे। कभी एक राजा थोड़ा-सा सर उठाता था तो कभी दूसरा। किन्तु चौ-वंश के पतन के बाद शिह्-ह्वाङ्ग-टी नामक एक युद्ध-नायक ने चिन या ट्सिन-वंश की नींव डाली। चौ-वंश का धर्म-गुरु-पद भी उसने ग्रहण किया और प्रथम शक्तिशाली साम्राज्य की नींव डाली। इसी वंश के नाम पर देश का भी नाम चीन हुआ।

चिन-वंश के सम्राटों का शासन शैङ्ग अथवा चौ-सम्राटों से अत्यधिक कठोर था। इसी वंश के संस्थापक उपर्युक्त शिह्-ह्वाङ्ग-टी ने उत्तर-पूर्व से आक्रमण करनेवाले हूणों के आक्रमण को रोकने के लिए चीन की सुप्रसिद्ध दीवार बनवाई थी। कालक्रम में उक्त वंश भी अधःपतन को प्राप्त हुआ और फिर हान्-वंशवालों को सम्राट् का पद एवं मर्यादा प्राप्त हुई। इस वंश के सम्राटों ने अनेक प्रशंसनीय कार्य किये। इन्होंने चीन की सीमा को खूब विस्तृत किया और हूण आक्रमणकारियों का दमन किया। इन लोगों ने गिरि-पर्वतों का उल्लंघन करके पश्चिम एशिया के साथ चीन का व्यापारिक सम्बन्ध प्रारम्भ किया। हान्-वंश के मक़बरों को देखने से पता चलता है कि मिस्र में बहुत दिनों पहले प्रचलित चिकने और चमकीले मिट्टी के बर्तन उस समय चीन में बनने लगे थे। इसी काल में लगभग १५० ई० पू० पहले-पहल काग़ज़ बना। हान्-वंश के पतन (२२० ई० पू०) के साथ चीन के प्राचीन इतिहास का भी साधारणतया अन्त होना समझा जाता है।

आदिम आर्यजातियाँ

जैसा कि मिस्र, बैबिलन आदि प्राचीन साम्राज्यों के सम्बन्ध में वर्णन किया जा चुका है, जिस समय पश्चिम एशिया और मिस्र आदि देश पारस्परिक युद्ध-विग्रह आदि में व्यस्त थे उसी समय मध्य एशिया से योरप तक के विस्तृत भू-खंड में एक ओर ख़ानाबदोश मानव-सम्प्रदाय घूम फिर रहा था। इनके और प्राचीन सभ्य जातियों की आकृति-प्रकृति में बहुत अन्तर था। यह लगभग चार हज़ार वर्ष पहले की बात है। इन नार्ड जातिवालों का रङ्ग गोरा और आँखें नीली थीं। इनकी संख्या तब अधिक न थी। मुट्ठी-मुट्ठी भर लोगों का एक-एक दल लम्बी दूरियों पर घूमता

रहता था। इनकी बोलियाँ विस्तार (Details) में भिन्न होती हुई भी, एक ही मातृ-भाषा से निकली हुई थीं। इनकी बोलियों में अन्तर से कम समानता न थी। इन नार्ड-जातियों ने मानव-इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। ये मुख्यतया जङ्गलों में घूमते रहते थे और इनकी जीविका का प्रधान साधन शिकार ही था, यद्यपि ये खेती करना भी जानते थे, फिर भी ये अपने खेतों के पास बसते नहीं थे, फ़सल काटकर आगे चल देते थे। ये अपनी सामग्रियाँ भद्दी बैलगाड़ियों में लादकर घूमा करते थे। कभी-कभी सरकण्डे के अस्थायी झोंपड़े भी डाल लिया करते थे। क़ाँसे का व्यवहार तो ये शुरू से करते थे पर बाद को इन्हें लोहे का भी ज्ञान हो गया था। पंडितों का अनुमान है कि घोड़ों से काम लेना भी ये लोग पीछे सीख गये थे। भूमध्यसागर के चारों ओर बसी अधिक सभ्य और सुव्यवस्थित जातियों की तरह, जिनका वर्णन हम पहले कर चुके हैं, इनके सामाजिक जीवन के केन्द्र मन्दिर और मठ नहीं थे। इनका प्रधान पुरुष पुरोहित न होकर दलपति या जाति का नेता होता था। आत्म-रक्षा के अस्त्रों को छोड़कर इनके पास अपनी कहलानेवाली अन्य चीज़ नहीं होती थी। बाक़ी अन्न-पशु आदि सब कुछ का मालिक दलपति ही होता था। उनके समाज में धार्मिक अथवा राजकीय विभाग नहीं थे, बल्कि उनमें कुलीन और अभिजातवर्ग होते थे। अत्यन्त प्राचीन काल से ही कुछ वर्ग विशिष्ट और नेतृत्व करने के योग्य समझे जाते थे।

इनका सामाजिक जीवन नेताओं के गार्हस्थ्य जीवन में ही केन्द्रीभूत रहता था। ये लोग भोजादि में बड़े चाव से भाग लेते थे और चारणों का गान सुनकर अपना मनोरंजन करते थे। खेतों-खलिहानों में ये लोग वाद-विवाद आदि में भी भाग लेते थे। दलपति एवं अन्य विशिष्ट व्यक्ति सपत्नीक मञ्चों पर सोते थे तथा साधारण लोग जहाँ-तहाँ पड़े रहते थे। शराब की तरह के पेय तब भी होते थे और ये लोग प्रचुर मात्रा में उसका उपयोग भी करते थे।

पहले ये लोग लेखन-कला से अनभिज्ञ थे। अतएव चारण लोग बड़े-बड़े वीरों और महापुरुषों का यशगान किया करते थे, और यही उनका काव्य, साहित्य, संगीत सब कुछ था। कहा जाता है कि इसी कारण इनकी

बोली कालान्तर में श्रुति-मधुर हो गई और भाव-व्यंजना का साधन बन गई। इनके इतिहास और इनकी दन्तकथायें इसी प्रकार विकसित होकर सागा एवं वेद आदि के रूप में परिणत हो गईं।

मैसोपोटामिया और नील नदी की मुख्य सभ्यताओं के चरम उत्कर्ष के दिनों में इन खानाबदोशों की संख्या बढ़ती जा रही थी। ई० पू० २००० से १००० के बीच में ये लोग संसार की सौर-पाषाणी जातियों को सर्वत्र तहस-नहस कर रहे थे। पश्चिम की ओर इनकी बाढ़ दो तरङ्गों में गई। ब्रिटेन और आयर्लैंड में एक दल पहुँचा, जो काँसे के शस्त्रों का उपयोग करता था। इन्होंने वहाँ के प्राचीन अधिवासियों को, जिन्होंने पत्थरों के विशाल स्मारक स्तम्भ बनवाये थे, तहस-नहस कर डाला और अपने अधीन कर लिया। यह उपजाति आज इतिहास में गौएडैलिक-कैल्ट्स के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रिटेन में इनकी एक दूसरी बाढ़ पहुँची, जो लोहे के अस्त्रों से सज्जित थी। ये लोग ब्रिथानिक कैल्ट्स के नाम से जाने जाते हैं। इन्हीं के सजातीय दक्षिण की ओर स्पेन में अग्रसर हो रहे थे और इटैलियन नामक दूसरे कैल्टिक इटैली प्रायद्वीप के घने जङ्गलों में अपना मार्ग बनाते जा रहे थे। इन्हें हर जगह विजय ही तो मिलती न थी, फिर भी ये इतिहास के पन्नों पर अपना अमर स्थान बनाने में तत्पर थे।

दूसरे छोर पर इनकी अन्य उपजातियाँ इसी प्रकार दक्षिण की ओर आगे बढ़ रही थीं। ई० पू० १००० से भी बहुत पहले संस्कृत-भाषा-भाषी जातियाँ पश्चिम के पर्वतीय मार्गों की राह भारत में आ पहुँची थीं। उनके अतिरिक्त, अन्य आर्य-जातियाँ मध्य-एशिया की पर्वत-मालाओं पर फैल गईं। पूर्वी तुर्किस्तान की नीले नेत्र, गौरवर्णवाली और मंगोल-भाषा-भाषी जातियाँ उन्हीं की सन्तान हैं।

कैस्पियन और काले सागर के बीच की हित्ति जाति ई० पू० १००० से भी पहले अर्मोनियन लोगों में घुल-मिलकर आर्य बन चुकी थी। ऐसीरिया और बैबिलनवालों को भी इन बलिष्ठ और बर्बर लोगों के आगमन की सूचना मिल चुकी थी। इन नवागन्तुक आक्रमणकारियों में सीथियन मेद और पारसी उपजातियाँ प्रमुख हैं।

परन्तु सबसे बड़ा आघात प्राचीन संसार की सभ्यता को पहुँचा बाल्कन प्रायद्वीप की राह होनेवाले आर्य-आक्रमणों से ही । आर्यों की उपजातियाँ बहुत दिनों पहले से एशिया माइनर में प्रवेश कर रही थीं। इनमें क्रम से फ़िजियन, ईओलिक, आयोनिक और डोरियन नामक यूनानी आर्यों की उपजातियाँ एक-एक करके आईं । ई० पू० १००० तक इन नवागन्तुकों नें आस-पास के भू-भागों से ईजियन सभ्यता के चिह्न तक मिटा डाले थे। माइसिनी, तिरियन और नोसस जैसे समृद्धिशाली नगरों की स्मृति भी लुप्तप्राय हो गई, और इन्होंने अपने नये नगर आबाद किये, अपनी नई सभ्यता स्थापित की ।

जिस समय ऐसीरिया के शासक बैबिलन, सीरिया और मिस्र से जीवन-मरण के युद्ध में तल्लीन थे उस समय अपनी सभ्यता का नूतन प्रकाश लेकर ये आर्य-जातियाँ इटली, ग्रीस और उत्तरी फ़ारस में अपना उन्नत स्थान बना रही थीं। सेमेटिक और मिस्र की जातियों के विचारों, उनकी सभ्यता-संस्कृति और उनकी कार्य-प्रणाली से इन आर्यों का संघर्ष अनेक वर्षों तक चला किया। सच तो यह है कि मानवता के इतिहास में उक्त संघर्ष कभी बन्द नहीं हुआ और आज भी जारी है।

मेद लोग और दारा का साम्राज्य

ऐसीरिया और बैबिलनवालों के निरंतर पारस्परिक युद्ध की बात हम पहले बतला चुके हैं। हम यह भी बतला चुके हैं कि बैबिलन ऐसीरियनों द्वारा विजित भी हुआ था, फिर भी वह जन-संख्या और महत्त्व के विचार से ऐसीरिया की राजधानी निन्नेव की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा नगर था। ऐसीरिया का यह नवीन साम्राज्य उसके प्रतापी सम्राट् सारगन द्वितीय की मृत्यु के बाद लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक चलता रहा और बेनिपाल नामक सम्राट् के समय तक मिस्र देश के कुछ हिस्सों तक विस्तृत हो गया था । किन्तु असुरों की यह प्रधानता और उनका यह सामरिक प्रताप ई० पू० सातवीं शताब्दी के बीच तक पतनोन्मुख हो चला। यहाँ तक कि मिस्र के राजा फ़ैराओ सैमिटिकस 'प्रथम' के नेतृत्व में असुरों को मिस्र से निकाल भगाया गया। न केवल इतना ही; बल्कि मिस्र देशवालों

ने निको 'द्वितीय' के राज्य-काल में सीरिया को भी, जो तब असुरों के साम्राज्य का एक अंग था, जीतने की चेष्टा की। असुर इसका प्रतिरोध नहीं कर सके, क्योंकि उधर मैसोपोटामिया के दक्षिण-पूर्वीय दिशा से कैल्डियन नामक अरबों ने मेद और पारसी नामक आर्यों की सहायता से असुरों की राजधानी निन्नेव पर प्रबल आक्रमण कर रक्खा था। ई० पू० ६७६ में राजधानी का पतन भी हो गया।

इस प्रकार पराजित और आक्रान्त होने से ऐसीरियन साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गये। उत्तर की ओर सायाज़ारेस की अधीनता में एक विशाल भू-भाग पर मेद-साम्राज्य संघटित हो उठा। असुरों की प्राचीन राजधानी निन्नेव भी इसमें शामिल थी, यद्यपि मेद-साम्राज्य की राजधानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ 'एकवताना' नामक एक दूसरे ही नगर को। पंडितों का कहना है कि मेद-साम्राज्य पूर्व की ओर भारत के सीमान्त तक फैला हुआ था। इस नवीन साम्राज्य के दक्षिण में बैबिलन को केन्द्र बनाकर कैल्डियनों ने 'द्वितीय बैबिलन साम्राज्य' की रचना कर डाली। इस साम्राज्य का वैभव नैबुकैडनैज़र महान् के शासन-काल में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया था। इस प्रतापी सम्राट् का वर्णन बाइबिल में भी आया है। बैबिलन के इतिहास में यह अन्तिम और सर्वाधिक महान् युग कहलाता है। कुछ दिनों तक मेद-साम्राज्य और बैबिलन के इस द्वितीय साम्राज्य में खूब मैत्री-भाव रहा, यहाँ तक कि सम्राट् नैबुकैडनैज़र की पुत्री का विवाह भी सम्राट् सायाज़ेरस के साथ हो गया। इस मैत्री के फल-स्वरूप द्वितीय बैबिलन साम्राज्य ई० पू० ६०६ से ई० पू० ५३९ तक निश्चिन्त होकर फूलता-फलता रहा। और इस क्षुद्र अवधि में ही बैबिलन में न केवल प्रचुर शान्ति और सुख का ही प्रसार हुआ, वरन् विद्या, शिल्प और वाणिज्य में भी उसका स्थान संसार में अत्यन्त ऊँचा हो गया।

इस बीच मिस्र के सम्राट् निको द्वितीय को सुअवसर मिला हुआ था और वह सीरिया को पददलित करता हुआ बहुत दूर तक आगे बढ़ आया था। ई० पू० ६०८ में उसने जुडा के राजा को युद्ध में हराकर मार डाला। इन विजय अभियानों से प्रोत्साहित होकर उसने युफ़्रेटीज़

नदी की ओर रुख किया, किन्तु उसकी आशा के विपरीत पतनोन्मुख ऐसीरियनों के स्थान पर उसका सामना करने के लिए अभ्युदयशील एवं नव-यौवन-पूर्ण प्रबल बैबिलन साम्राज्य की अक्षौहिणी उमड़ पड़ी। फल यह हुआ कि कैल्डियनों ने मिस्र सम्राट् को गहरी हार दी और बैबिलन साम्राज्य की सीमा मिस्र तक विस्तृत हो गई।

किन्तु कैल्डियन साम्राज्य का सौभाग्य-सूर्य बहुत दिनों तक तप नहीं सका। अन्तिम सम्राट् नवोनिदस को, यद्यपि वह बड़ा ही साहित्य-प्रेमी एवं विद्यानुरागी था, पुरोहितों के षड्यन्त्र का शिकार होना पड़ा और उसके साथ ही उक्त वंश के साम्राज्य का सूर्य भी अस्त हो गया। जब नवोनिदस ने अपने साम्राज्य में फूट और कलह के लक्षण देखे तब उसने सभी प्रकार के लोगों को संतुष्ट करने के विचार से बैबिलन में विभिन्न प्रकार के देवताओं की मूर्तियाँ ँगाकर उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठित करा दिया। आगे चलकर रोमन लोगों ने भी इस उपाय को अपनाया और उन्हें इसमें सफलता मिली; किन्तु नवोनिदस को अपने प्रयत्न में असफलता ही प्राप्त हुई।

बैबिलन के प्रमुख देवता 'बेलमरदक' के प्रबल पुरोहितवर्ग में फैलता हुआ असंतोष एक दिन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया और वे सम्राट् को पद-च्युत करने का अवसर ढूँढ़ने लगे। उन्हें अवसर भी शीघ्र ही प्राप्त हो गया। निकटवर्ती और एक समय के मित्र मेद-साम्राज्य का शासक साइरस अपनी विजयाकांक्षाओं के लिए प्रसिद्ध हो रहा था। इस साहसी शासक ने लीडिया के पराक्रमी राजा क्रीसस को युद्ध में हराया था। पुरोहित-वर्ग की दृष्टि उस पर पड़ी और बैबिलन पर आक्रमण करके वहाँ का भी सम्राट्-पद ग्रहण करने का निमन्त्रण उसे दे दिया गया। उसे तो ऐसे अवसरों की खोज ही थी, फलतः उसने अविलम्ब बैबिलन पर धावा बोल दिया। नगरप्राचीर के बाहर भयंकर युद्ध प्रारंभ हो गया, पर थोड़ी ही देर बाद देश-द्रोही और षड्यन्त्रकारी पुरोहित-वर्ग की धूर्तताओं और द्रोह के फलस्वरूप अकस्मात् नगर के द्वार खुल पड़े और शत्रु दल के सैनिक बिना लड़े-भिड़े ही नगर में प्रवेश पा गये। नवोनिदस बन्दीगृह में डाल दिया गया, उसका पुत्र बैलशजर मार डाला

गया औरइस तरह बैबिलन के द्वितीय साम्राज्य का ई० पू० ५३८ में अन्त हो गया। कैल्डियन साम्राज्य का अस्तित्व मिट गया और वह मेद साम्राज्य का एक अङ्ग मात्र बनकर रह गया।

ईसाइयों के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल में भी इस घटना का विवरण एक विचित्र रूप में आया है। उसमें लिखा है कि जिस समय बैबिलन पर आक्रमण हुआ उस समय सम्राट् नवोनिदस का पुत्र बैलशजर अपने राग-रंग में व्यस्त था, तभी अकस्मात् किन्हीं अदृश्य हाथों ने सामने की दीवार पर कुछ निरर्थक से वाक्य लिख दिये, जिसकी व्याख्या पैग़म्बर दानियाल ने इस प्रकार की—"तुम्हारे राज्य के दिन पूरे हो गये और तुम्हारा राज्य मेद और पारसी जातियों को दे दिया गया।"

मेद-साम्राज्य के विस्तार की प्रगति बैबिलन पर आधिपत्य स्थापित हो जाने ही से समाप्त नहीं हो गई। बैबिलन के विजेता मेद-सम्राट् साइरस के पुत्र कैम्बिसस ने साम्राज्य-विस्तार की नीति जारी रक्खी और उसने मिस्र को भी अपने अधीन कर लिया। बाद में कैम्बिसस विक्षिप्त-सा हो गया और उसकी अकाल मृत्यु हो गई।

साइरस और कैम्बिसस की अभूतपूर्व सफलताओं और उनके अपर्याप्त साधनों को दृष्टि में रखते हुए यह निश्चय ही मानना पड़ेगा कि वे हर अर्थ में महान् थे। कहा जाता है कि सिकन्दर से पूर्व, लगभग उसके साम्राज्य के बराबर ही प्रथम दिग्विजयी साम्राज्य स्थापन करने में साइरस को महान् सफलता प्राप्त हुई थी। साइरस के सबसे बड़े गुण उसकी सहृदयता और मानवीय भाव बतलाये जाते हैं। उसने विजितों पर बदले अथवा प्रतिशोध की भावना से कभी भी अत्याचार, अनाचार नहीं किये। इस तरह वह अपने समय और अपने राष्ट्र की भावनाओं से बहुत आगे बढ़ा हुआ था; और यह सब कुछ न केवल एक व्यक्ति के रूप में ही, बल्कि एक राजपुरुष के रूप में भी।

कैम्बिसस के जीवनकाल में, ई० पू० ५२२ के मार्च मास में, गामटा नामक एक व्यक्ति ने, जो सम्राट् के घरेलू प्रबन्ध की देख-रेख करता था, विद्रोह का झंडा खड़ा किया। कुछ पशोपेश के बाद पारसियों और मेदों ने उसे सम्राट् भी स्वीकार कर लिया। और अन्त में कैम्बिसस की

मृत्यु के बाद वह सारे साम्राज्य-द्वारा प्रधान शासक और सम्राट् मान लिया गया; क्योंकि उसने कैम्बिसस का भाई बार्डियस होने का दावा किया था, जिससे उसकी रूप-रेखा एकदम मिलती हुई-सी थी।

लेकिन यह धोखा-धड़ी अधिक दिनों तक नहीं चल सकी। प्रचलन के अनुसार मुकुट और सिंहासन के साथ-साथ कैम्बिसस का 'हरम' भी उसे उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था। वहीं से पर्दाफ़ाश हुआ कि वह वंचक है, यद्यपि हरम पर इतनी सख़्ती उसने बरतना शुरू की थी कि स्त्रियों को आपस में मिलने-जुलने की भी मनाही थी, बाहर आने-जाने की तो बात ही अलग है।

अन्त में साइरस के प्रधान सलाहकार हस्तास्पैस के पुत्र, इतिहास-प्रसिद्ध दारा या दारायवहुष ने, जो सम्राट् का निकट सम्बन्धी होने का दावा करता था, अन्य छः पारसी सरदारों के साथ मिलकर उक्त वंचक की हत्या कर डाली। कहा जाता है कि इसके बाद सिंहासनारूढ़ होने के लिए उक्त सातों व्यक्तियों में यह बात तै पाई कि जिसका घोड़ा सूर्योदय के समय सबसे पहले हिनहिनायेगा वह राज्य का अधिकारी होगा, और अपने लगाम-संचालन के ख़ास कौशल से दारा ने राजमुकुट प्राप्त कर लिया एवं एक सुविस्तृत साम्राज्य का कर्ता-धर्ता और विधाता बन बैठा।

पुरातन सभ्यता के गढ़ में दारा (प्रथम) का वह पारसी साम्राज्य उन सभी साम्राज्यों से अधिक विस्तृत था, जो तब तक आर्य-जातियों द्वारा स्थापित हुए थे। कहा जाता है कि समूचा एशिया माइनर, सीरिया, ऐसीरिया और बैबिलन के प्राचीन साम्राज्य मिस्र, काकेशस और कैस्पियन के निकटवर्ती प्रदेश—मेद, फ़ारस और यहाँ तक कि सिन्धु नदी पर्यन्त भारत आदि सभी देश उसके साम्राज्य के अन्तर्गत थे।

अब चूँकि मानवता यथेष्ट विकसित हो चुकी थी अतः पहले की तरह गदहे, बैल और रेगिस्तानी ऊँट ही केवल यातायात और विजय-अभियान के साधन नहीं रह गये थे। राजपथ बन चुके थे। घोड़े, घुड़सवारों और रथों आदि के उपयोग के उन्नत ढंग लोग जान गये थे। इन्हीं कारणों से एक इतने बड़े साम्राज्य की एकान्त स्थापना सम्भव हो सकी। इस बृहत् साम्राज्य की रक्षा और उसके स्थायित्व के लिए इसके संस्थापकों ने जाल की तरह साम्राज्य भर में राजपथ बनाकर फैला दिये थे। राजाज्ञाओं

को एक स्थान से दूसरे स्थानों पर ले जाने आदि के सुगम तरीक़े भी इन लोगों ने बना लिये थे। चौकियाँ (Posts) बनी थीं, जहाँ इन राजाज्ञाओं को ले जानेवाले राज-कर्मचारियों के रथों के घोड़े बदले जाते थे, ताकि उनकी यात्रा का क्रम न टूटे और समय भी कम लगे। इसके अतिरिक्त ढले हुए धातु के सिक्कों का इस्तेमाल भी उस समय तक शुरू हो गया था, जिससे व्यापार और पारस्परिक विनिमय आदि में काफ़ी सुगमता पैदा हो गई थी।

अब साम्राज्य की राजधानी भी बैबिलन में नहीं रह गई थी, यद्यपि बैबिलन तब भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नगर था; पर उसकी गति ह्रासोन्मुखी हो चली थी। नये-नये नगरों का उद्भव हो रहा था, जिनमें प्रमुख थे—परसिमोलिस, सूसा, एकवैताना आदि। इनमें राजधानी होने का सौभाग्य सूसा को प्राप्त था। प्राचीन निन्नेव भूमिसात् हो रहा था।

इतने विशाल साम्राज्य के संस्थापक और संरक्षक होने के कारण दारा को कई विद्रोहों का भी सामना करना पड़ा; पर उसे विद्रोहियों का दमन करने में कहीं भी असफलता नहीं मिली। उसने मिस्र में जाकर नील नदी की नहर को स्वेज़ की खाड़ी तक पूरा कराया और काप्टास से लाल सागर तक की सड़क फिर खुलवा दी।

अन्त में ई० पू० ४८५ में—अपने शासन-काल के छत्तीसवें वर्ष में—उसकी मृत्यु हो गई; जब कि वह ग्रीस पर आक्रमण करने के लिए क़रीब-क़रीब पूरी तैयारी कर चुका था।

पाँचवाँ प्रकरण

यहूदियों का प्राचीन इतिहास

विश्व के इतिहास में यहूदियों का भी एक विचित्र स्थान है। यह जाति सैमिटिक जाति की ही एक शाखा थी जो ई० पू० १,००० से भी बहुत पहले जुडिया में बस गई थी। यद्यपि इसने अपने प्रारम्भिक जीवन में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया जिससे इसे महत्त्व प्रदान किया जाय; किन्तु पश्चात्कालीन इतिहास को इसने यथेष्ट प्रभावित किया। आज इस जाति के बारे में प्रसिद्ध है कि संसार में यह ऐसी जाति है जिसकी मातृ-भूमि अथवा अपना देश कोई नहीं है।

हिब्रू-बाइबिल, जिसे ईसाई लोग 'ओल्ड-टेस्टामेंट' या प्राचीन इंजील कहते हैं, इनका सर्वश्रेष्ठ प्राचीन साहित्य है; जिसमें इतिहास, धर्मशास्त्र, दर्शन आदि सभी कुछ हैं। इसका काल विद्वानों द्वारा ई० पू० चौथी और पाँचवीं शताब्दी के बीच में कहीं अनुमित हुआ है।

हम पहले चर्चा कर आये हैं कि ई० पू० ६०८ में जुडिया (अफ़्रीका और एशिया के संधि-स्थल पर स्वेज़ के आस-पास का स्थान) का राजा जोशाया मिस्र के सम्राट् निको द्वितीय का सामना करते हुए युद्ध में मारा गया था और इस प्रकार जुडिया मिस्र का करद राज्य बन गया था; किन्तु जब कैल्डियन वंशीय बैबिलन सम्राट् नैबुकैडनाज़र महान् ने निको को युद्ध में परास्त कर दिया तब उसने निको द्वारा विजित जुडिया को भी अपने अधीन करने का प्रयत्न किया। उसने अपने मनोनीत राजाओं को जुडिया में राज्याधिकार प्रदान करने की चेष्टा की, जिसमें उसे सफलता नहीं मिली। इस पर क्रुद्ध होकर नैबुकैडनाजर ने यहूदियों की राजधानी जेरुसलम में क़त्ल-आम करवाकर आग लगवा दी और बचे-खुचे लोगों को बन्दी बनाकर बैबिलन मँगवा लिया।

इस प्रकार ये लोग लाचार होकर बहुत दिनों तक बैबिलन में ही रहते रहे। अनुमान लगाया जाता है कि वहीं उन्होंने लिखना-पढ़ना सीखा और सभ्यता का 'क ख ग' ग्रहण किया। यों तो सम्भव है, इनकी 'प्राचीन इंजील' हमारी श्रुतियों और स्मृतियों की भाँति बहुत दिनों से अस्तित्व में रही हो; पर लिखित रूप में संसार के सामने आने का अवसर सर्वप्रथम उसे बैबिलन में ही प्राप्त हुआ। वैसे भी इस ग्रन्थ की गणना संसार के प्राचीनतम साहित्यों में है।

विजित और पददलित होने के पूर्व यहूदियों में एकता अथवा राष्ट्रीय चेतना का एकान्त अभाव था और वास्तव में जब ई० पू० ५३८ में साइरस ने बैबिलन पर आधिपत्य स्थापित किया और इन्हें जेरुसलम जाकर उसे फिर से आबाद करने की आज्ञा दी तब ये पूर्णतः संयुक्त और एक होकर वापस गये, अपने राष्ट्र, साहित्य और राजनैतिक महत्त्व की चेतना से भरे हुए।

इसके पूर्व का इनका इतिहास जानने के लिए हमें इनके 'प्राचीन इंजील' का ही सहारा लेना पड़ता है। उक्त महान् ग्रन्थ के प्रारम्भ में वर्णित सृष्टिक्रम तथा आदम और हौव्वा की कहानी एवं मूसा-सैमसन आदि की कथायें तो सुमेरिया और बैबिलन में प्रायः सर्वत्र ही प्रचलित हैं, जिससे बोध होता है कि समस्त सैमिटिक जातियाँ इन कथाओं में समान रूप से आस्था रखती थीं। किन्तु जहाँ से इब्राहीम की कहानी प्रारम्भ होती है उसके आगे यहूदी-जाति का अपना इतिहास प्रारम्भ होता हुआ प्रतीत होता है।

इतिहास के शोधक पंडितों का अनुमान है कि उक्त इब्राहीम सम्भवतः उस समय पैदा हुआ था जब कि बैबिलन में हम्मूरबी शासनारूढ़ था। फिर बहुत दिनों तक मिस्र में निवास करने और अपने प्रसिद्ध पैग़म्बर मूसा के नेतृत्व में जङ्गलों में भटकते फिरने के बाद इब्राहीम के वंशजों ने अरब की मरुभूमि से कैना पर आक्रमण किया। समझा जाता है कि यह घटना ई० पू० १६०० से १३०० के बीच की है और तब इब्राहीम के वंशज संख्या में बढ़कर बारह कबीलों में बँट गये थे। ध्यान रहे ये सारी बातें अनुमान ही के सहारे खड़ी हैं, इनका कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण आज तक नहीं पाया गया है।

इसके बाद यहूदियों ने अपेक्षाकृत अधिक उर्वर भू-खंड की ओर क़दम बढ़ाया और जुडा तथा इसराइल प्रभृति पर्वतीय भूमि पर अधिकार करके रहना शुरू किया। फिर भी उनकी दृष्टि सदा ही जुडा की पश्चिम ओर समुद्रतट की शस्य-श्यामला भूमि पर लगी रही, जिसे फ़िलिस्तिया कहा जाता है। अनेक वर्ष तक उक्त भू-खंड पर अधिकार प्राप्त करने की निरन्तर चेष्टा ये लोग करते रहे; पर उन्हें बार-बार प्रबल विरोधों का सामना करना पड़ा। इस प्रकार इब्राहीम के वंशज कई पीढ़ियों तक पर्वत-मालाओं एवं उपत्यकाओं में निवास करते हुए बहुत दिनों तक अत्यन्त महत्त्वहीन अवस्था में रहे। इस बीच लोग बराबर फ़िलिस्तीनों और उनके सजातियों से लड़ते-झगड़ते जीवन बिताते रहे।

इनके जातीय शासन का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक विद्वानों का मत है कि ई० पू० १००० से पहले तक कबीलों और कुनबों के वृद्ध पुरुषों-द्वारा निर्वाचित पुरोहित न्यायाधीश ही इनका शासक होता था; लेकिन उक्त समय के लगभग, इन्होंने युद्ध-भूमि में नेतृत्व करनेवाले 'साल' नामक एक व्यक्ति को राजा के पद पर आसीन कर दिया। सम्भवतः फ़िलिस्तीनवालों के साथ बार बार संघर्ष और सम्पर्क में आने के कारण ही उन्होंने राजा की उपयोगिता को समझा हो, किन्तु उक्त व्यक्ति का राजोचित नेतृत्व कुछ विशेष लाभदायक नहीं सिद्ध हुआ। वह गिलकोआ पर्वत के युद्ध में फ़िलिस्तीनवालों के हाथों मार डाला गया।

साल की मृत्यु के बाद उसका लड़का दाऊद राज्य का उत्तराधिकारी बनाया गया। दाऊद अपने पिता की अपेक्षा कहीं अधिक सफल शासक एवं चतुर संचालक सिद्ध हुआ। यहूदी जाति के समस्त इतिहास में केवल दाऊद का शासन-काल ही ऐसा है जिसे अन्य जातियों की तुलना में ऐश्वर्य-मय कहा जा सकता है और सचमुच फिर उसके बाद इस जाति को कभी भी वैसे अच्छे दिन नहीं नसीब हुए। इस ऐश्वर्य का प्रधान कारण यह बतलाया जाता है कि दाऊद ने टायर नामक फ़िनिशियन नगर के महत्त्वाकांक्षी और बुद्धिमान् राजा हिरम से मैत्री साध रक्खी थी। चूँकि उस समय तक लालसागर से होनेवाला फ़िनिशियनों का सारा व्यापार

आमतौर पर मिस्र की राह होता था, जो तत्कालीन अव्यवस्था और अराजकता के कारण निरापद नहीं रह गया था. अतः उक्त राजा यहूदियों के देश की पर्वतमालाओं के रास्ते लाल सागर तक पहुँचने के लिए अत्यन्त उत्सुक था। दाऊद से मित्रता पैदा करके उसने फ़िनिशियन व्यापार के लिए उक्त सुविधा प्राप्त कर ली। इस मैत्री के फल-स्वरूप दाऊद के पुत्र एवं उत्तराधिकारी इतिहास-प्रसिद्ध राजा सोलोमन के राजत्वकाल में जेरुसलम समृद्धि और ऐश्वर्य के चरम शिखर पर था; क्योंकि वह नगर उत्तर और दक्षिण के सारे व्यापारिक उद्योगों और कार्यों का केन्द्र बन गया। ऐसा ऐश्वर्य यहूदियों ने कभी नहीं देखा था। फिनिशियन राजा हिरम की ही अध्यक्षता में जेरुसलम में मनोरम मन्दिरों और भव्य प्रासादों का निर्माण हुआ। सोलोमन का ऐश्वर्य अपने देश की सीमा से बाहर विदेशों तक में प्रख्यात हो उठा, यहाँ तक कि मिस्र के एक सम्राट् ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह भी कर दिया। सुलेमान नाम देकर सोलोमन के बारे में आज भी अनेक किंवदन्तियाँ देश-विदेश में प्रचलित हैं।

इतनी समृद्धि और ऐश्वर्य का स्वामी होते हुए भी हमें यह भूलना न होगा कि सोलोमन सम्राट् नहीं था, एक मांडलिक राजा था और उसकी मृत्यु के बाद ही उसकी क्षणिक राज्य-शक्ति भी नष्टप्राय हो गई। मिस्र के बाईसवें वंश के प्रथम सम्राट् ने जेरुसलम को विजित करके उसकी धन-सम्पत्ति भी लूट ली।

बाइबिल की गाथा से स्पष्ट है कि सोलोमन ने जनता पर कर-वृद्धि करने, उनसे अधिक से अधिक काम लेने और अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन करने में ही सारा जीवन बिता दिया। उसकी मृत्यु के बाद जेरुसलम का अखण्ड राज्य दो भागों में विभक्त हो गया था। उत्तरी भाग इसराइल के नाम से एक स्वतंत्र राज्य बन गया था और जेरुसलम केवल जुडा नामक प्रान्त की राजधानी मात्र रह गया था। फल यह हुआ कि यह जुडा और इसराइल के छोटे-छोटे राज्य कभी एंसीरिया, सीरिया और कभी उत्तरीय बैबिलन एवं दक्षिणीय मिस्र-द्वारा बार-बार आक्रान्त और पद-दलित होते रहे। इन राज्यों का इतिहास इन्हीं विपदाओं का एक क्रमबद्ध विवरण-मात्र है।

ई० पू० ७२१ में इसराइल राज्य पर ऐसीरियावालों ने आक्रमण किया और वहाँ के निवासियों को बन्दी बना लिया और इस प्रकार इसराइल का अस्तित्व इतिहास के आगामी पृष्ठों से मिट गया। इसी प्रकार लड़ते-झगड़ते कुछ दिन काटकर जुडा का राज्य भी ई० पू० ६०४ में विनष्ट हो गया। बैबिलन, ऐसीरिया ओर मिस्र में गत शताब्दी में जो खुदाइयाँ हुई हैं उनसे बाइबिल में वर्णित एतत्सम्बन्धी अधिकांश गाथाओं की सचाई प्रकट हो गई है।

यहूदी जाति के कुछ विशिष्ट गुणों को विकसित करने में एक खास प्रकार के व्यक्तियों का प्रधान हाथ रहा है, जो पैग़म्बर कहलाते थे। आगे हम इन्हीं का विवरण देंगे।

यहूदियों के विचार और उनके पैग़म्बर

यहूदियों के जातीय जीवन का प्राण है उनका वह धर्मग्रन्थ, जिसे हमने ऊपर 'प्राचीन इंजील' कहा है। कहने को तो उक्त महाग्रन्थ को यहूदियों ने रचा था; पर उनके समूचे जातीय जीवन को उक्त ग्रन्थ ने ही रचा है। यों कभी जेरुसलम इनका केन्द्र अवश्य था; पर वह संसार के अनन्त काल-व्यापी इतिहास में अत्यन्त नगण्य अवधि तक ही क़ायम रह कर अतीत के अन्धकार में विलीन हो गया और यही हाल उनके राज का रहा। अतएव वास्तविकता यह है कि न उनका कोई केन्द्र रहा, न कोई राजा और न कोई मन्दिर। इसी लिए हम यहूदी जाति को एक विचित्र जाति कहते हैं, क्योंकि किसी भी जाति के जीवन को क़ायम रखने के लिए उक्त आधार अत्यन्त अनिवार्य होते हैं, विशेषकर जातीय जीवन के संघटन की प्राथमिक अवस्थाओं में; किन्तु यह सब कुछ न होते हुए भी केवल कुछ लिखित शब्दों के आधार पर युगों से यह जाति अपना पृथक् अस्तित्व क़ायम रखती आई है। यहूदियों के इस महाग्रन्थ में, अन्य सैमिटिक जातियों से सर्वथा भिन्न, कुछ ऐसे उत्साहवर्द्धक एवं जीवनदायक सन्देश पाये जाते हैं जिनके बल पर गत पच्चीस शताब्दियों की लम्बी अवधि में लगातार कष्ट सहन करके भी यहूदी अपना अस्तित्व अक्षुण्ण रख सके हैं, संसार की सभी जातियों से पृथक् और निराला।

इनकी अटूट एकता का अनुमान केवल इतने ही से लगाया जा सकता है कि ई० पू० ८०० से लेकर ई० पू० ३०० तक की लम्बी अवधि में आर्य-भाषा-भाषी बर्बर विजेताओं के दुर्द्धर्ष आक्रमणों से जब सभी सैमिटिक जातियों के चिह्न तक मिट जाने की अवस्था उत्पन्न हो गई, तब यही एक जाति थी जो सदा की भाँति संयुक्त रही और अपनी प्राचीन रूढ़ियों को दृढ़तापूर्वक पकड़े रही।

फिर तो अपने पराभव के समय अन्य कई सैमिटिक जातियों के लोग तथा उनके आचार-व्यवहार, रुचि-स्वभाव आदि से समानता रखनेवाले बहुतेरे फ़िनिशियन लोग भी इस उत्साहवर्द्धक धर्म अथवा पंथ की ओर आकर्षित हो आये। आर्यों द्वारा समानभाव से पद-दलित इन सभी लोगों को इस पन्थ में भाईचारे और पुनरुत्थान की क्षीण आशा दिखाई पड़ी हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कुछ ही दिनों बाद जब कि फ़िनिशियन जाति संसार से सर्वथा विलुप्त हो गई तब उनके स्थानों पर, न केवल जेरुसलम में; बल्कि सुदूर अफ़्रीका स्पेन आदि में भी यहूदी जाति जा उपस्थित हुई। ध्यान देने की बात है कि संख्या में अत्यल्प इस जाति ने इतने सुदूर-व्यवधानों के होते हुए भी अपनी राष्ट्रीय चारित्रिकता को नहीं ही खोया। और इसका सारा श्रेय उक्त महाग्रन्थ को ही प्राप्त है।

उक्त महाग्रन्थ के अनुसार यहूदियों का धार्मिक विश्वास संक्षेप में इस प्रकार बतलाया जा सकता है कि उनका प्रधान विचार यह है कि ईश्वर एक अदृश्य और अत्यन्त दूरस्थ शक्ति है। इस जाति की धारणा थी कि वह शक्ति अत्यन्त न्यायकारी है और संसार का स्वामी भी वही ईश्वर है। यहूदी लोग मनुष्यनिर्मित मन्दिरों में ईश्वर के अस्तित्व को मिथ्या कल्पना कहते थे। ये बातें महत्त्वपूर्ण इस दृष्टि से थीं कि तब तक लगभग अन्य सभी जातियाँ देवताओं को मानकर उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठित करती थीं और उनका यह भी विचार था कि मन्दिरों के नष्ट होते ही देवताओं का भी नाश हो जाता है। यहूदियों ने इन्हें भ्रम बताया और पुजारियों, बलिदानों तथा पूजा से परे स्वर्गस्थ परमात्मा का नया विचार उन्होंने संसार के सामने उपस्थित किया।

इस सिलसिले में यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है, जिस पर ध्यान देना

आवश्यक है कि यहूदियों का मानसिक संगठन न तो पुरोहितों और राजपुरुषों के मस्तिष्क की उपज थी और न उन्होंने कभी इसके बारे में सोचा ही था। इसके विपरीत इन सब कुछ का सम्पूर्ण श्रेय प्राप्त है एक प्रकार के विशिष्ट व्यक्तियों को, जिन्हें पैग़म्बर कहा गया है। पहले तो इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं था; पर यहूदी जाति पर विपत्तियों के पहाड़ जैसे-जैसे टूटते गये तैसे-तैसे इनका महत्त्व भी बढ़ता गया।

यहूदियों के इतिहास में एक समय तो ऐसा आ गया था जब कि प्रसिद्ध सोलोमन के शासन-काल में ऐसा प्रतीत होने लगा था कि अन्य छोटी-मोटी जातियों की तरह ही यहूदी जाति भी राजपुरुषों और मन्दिरों की प्रधानता तथा पुरोहितों की विद्वत्ता के रोब और लोलुप राजाओं के नेतृत्व में चलनेवाली जाति बन जायगी। पर ऐसा होते-होते रुक गया। एक तो इस कारण कि वह राज-दरबारों का गन्दा वातावरण थोड़े ही दिनों का मेहमान रहकर बिदा हो गया और दूसरे इसलिए कि धीरे-धीरे 'पैग़म्बर' कहलानेवाले सत्य-शोधक व्यक्तियों का प्रभाव भी खूब बढ़ गया।

पैग़म्बरों का नाम हम एकाधिक बार ले चुके हैं। ये कौन थे, क्या करते थे और कैसे रहते थे, ये प्रश्न स्वभावतः ही उठ सकते हैं। संक्षेप में अब हम उन्हीं की बात कहेंगे। इनके सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण और विचित्र बात यह है कि ये किसी वंशविशेष में पैदा होनेवाले व्यक्ति नहीं होते थे। इनका जन्म विविध वर्णों एवं जातियों में हुआ था। न तो ये लोग किसी गुरु आदि से दीक्षा लेते थे और न अपने उपदेशों के प्रचार के लिए राज्य का आश्रय ही ढूँढ़ते थे। सीधे ये लोग सर्व-साधारण को सम्बोधित करके कहना प्रारम्भ कर देते थे—"संसार के स्वामी ने मुझे आदेश दिया है.....।"

जैसा कि ऊपर कहा गया है, ये उपदेष्टा सभी वर्गों में पैदा होते थे। उदाहरण के लिए पैग़म्बर इज़किये़ल का जन्म हुआ था पुरोहित-वर्ग में और पैग़म्बर अनूस का गड़ेरिये के घर में। वे उस बात को बकरे के खाल के वस्त्र पहनकर विज्ञापित भी किया करते थे। अपने यहाँ के प्रख्यात मनीषी चाणक्य से इन पैग़म्बरों की तुलना की जा सकती है,

क्योंकि ये लोग राजनीति और समाज-सुधार के कार्यों में बड़ी दिलचस्पी लेते थे और जनता को विजेताओं के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उत्तेजना देते रहते थे। राजाओं के पापों और पुरोहितशाही के आलस्य की भी ये लोग निस्सङ्कोच निन्दा करते थे।

इनके सम्बन्ध में सबसे मज़े की बात तो यह है कि आधुनिक संसार के लाभदायक व्यवसायों में लगी हुई सम्पूर्ण पूँजी के एक बहुत बड़े भाग के स्वामी यहूदी-पूँजीपतियों के ये प्राचीन पैग़म्बर आधुनिक समाज-वादियों की तरह शोषण की निन्दा कर गये हैं। उनका कहना था—"धनी लोग निर्धनों की हड्डियाँ कुचलते हैं, आमोद-प्रमोद-युक्त विलासमय जीवन व्यतीत करनेवाले लोग जन-साधारण की रोटियाँ छीन रहे हैं ।" यहाँ तक कि पैग़म्बरों द्वारा निर्मित साहित्य को—उनके उपदेशों को—जो बाद में प्राचीन इंजील में शामिल हो गये— पढ़ने पर हमें क्षोभ और रोष के चिह्न स्थल-स्थल पर सहज ही मिल सकते हैं। ऐसी चीज़ें भी उनमें से निकाली जा सकती हैं जिन्हें आज 'प्रचार-साहित्य' कहकर लोग नाक-भौं सिकोड़ते हैं।

फिर भी इनका संसार के इतिहास में एक निराला स्थान है। जादू-टोने की रूढ़ियों में अन्ध-श्रद्धा के साथ जकड़ी हुई मानवता को इन लोगों ने ही पहले-पहल नैतिक विवेचना-शक्ति का मंत्र देकर उसे प्रकाश प्रदान किया। इन्होंने, मन्दिरों और पुरोहितों, राजाओं और उनके राजकर्मचारियों, सबको तुच्छ बताने का साहस प्रदर्शित किया और एक ईश्वर के न्याय का गुणगान किया। न केवल इतना ही; बल्कि संसार में एक सुख-शान्ति-सम्पन्न समाज-व्यवस्था अथवा रामराज्य का भी स्वप्न उन्होंने देखा और उसके आगमन की भविष्यवाणी की।

यूनानी या ग्रीक

जैसा कि हम पहले कह आये हैं, आर्यों की कई शाखायें ई० पू० १००० से भी कई सौ वर्ष पूर्व ईजियन नगरों और द्वीपों में जा बसी थीं, और प्राचीन ईजियन सभ्यता के ध्वंसावशेष पर अपनी स्वतंत्र संस्कृति का निर्माण करने लगी थीं। स्वभावतः ही उनका तत्कालीन इतिहास लिपि की सीमा में नहीं आ सका है, क्योंकि लिखना उन्होंने बहुत समय के बाद

सीखा था। अधिकांश आर्यों की भाँति इन आर्यों के यहाँ भी, जिन्हें इतिहास ने ग्रीक संज्ञा प्रदान की है, चारण अथवा भाट हुआ करते थे, जो उनकी यश-गाथाओं को अपनी गायन-परम्परा में जीवित रखते थे। अतएव ऐतिहासिक प्रामाणिक सामग्री के अभाव में हमें उन चारणों के गायनों के आधार पर ही ग्रीकों के इतिहास का क़िला खड़ा करना है। बाद को वे गायन लिपिबद्ध भी हो गये; जब कि ग्रीक लोग सभ्य होकर पढ़ना-लिखना जान गये।

इस सम्बन्ध में विद्वानों के बीच भयंकर मतभेद है कि ग्रीकों के महाकाव्य ईलियड और ओडेसी का रचयिता कौन था। पहले लोगों का विश्वास था कि उक्त दोनों महाकाव्यों को 'होमर' नामक किसी अंध चारण ने रचा था, जो आज लगभग भ्रमात्मक घोषित हो चुका है। इतिहास के पंडितों का मत है कि ये ग्रन्थ ई० पू० ७वीं और ८वीं शताब्दी के बीच में लिपिबद्ध किये गये थे और निस्सन्देह इनका अस्तित्व बहुत दिनों पहले से था। इनमें से ईलियड नामक ग्रन्थ में ग्रीक जातियों के एक संघ-द्वारा एशिया माइनर-स्थित ट्राय नामक एक नगर के आक्रान्त एवं विजित होने और लूटे जाने का वर्णन किया गया है। दूसरे महाकाव्य ओडैसी में ऋषि-कल्प सेनापति ओडैसियस के ट्राय की विजय-यात्रा से लौटने का विशद वर्णन है।

अस्तु, हमारे रामायण और महाभारत की ही भाँति ग्रीकों के प्रागैतिहासिक जीवन का विवरण जानने के लिए ये ही महाकाव्य इतिहास-शोधकों के सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। इन महाकाव्यों से स्पष्ट है कि उस समय ये यूनानी अथवा ग्रीक बर्बर अवस्था में ही थे, वे न नगरों का ज्ञान रखते थे, न लोहे का व्यवहार ही जानते थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये लोग सम्भवतः ईजियन नगरों के ध्वंशावशेषों के पास अपने सर्दारों के ख़ेमों के चारों ओर छोटी-छोटी झोपड़ियाँ लगाकर रहा करते थे। इसी प्रकार धीरे-धीरे उनके गाँव बसे और गाँव उन्नति करके नगर बन गये। नगरों के रक्षार्थ इन्होंने चतुर्दिक् प्राचीरें बनाईं और पीछे नगरों में मन्दिरों का निर्माण भी इन्होंने कर लिया, जैसा कि विजित ईजियन जातिवाले करते थे। क्रमशः ये लोग व्यापारी भी बन बैठे और कुछ

ही दिनों में इनकी सभ्यता और संस्कृति इतनी प्रभावपूर्ण हो गई कि सर्व-साधारण पूर्वगामी ईजियन-सभ्यता को भूल-से गये। ई० पू० सातवीं शताब्दी प्रारम्भ होते ही यूनान की घाटियों तथा अन्य निकटस्थ द्वीपों में एथेन्स, स्पार्टा, कोरिन्थ, थीबिस आदि यशस्वी नगरों का निर्माण हो गया। यहाँ तक कि इटैली, सिसली आदि स्थानों में इनके उपनिवेश भी स्थापित हो गये।

ग्रीकों ने अपने इस नव-उत्थान-काल में जीवन की एक नई व्यवस्था गढ़ी नगर-राज्यों की, जो सम्भवतः इसी कारण कार्यान्वित हो सकी कि ग्रीस (यूनान) और बृहत्तर ग्रीस दोनों ही प्राकृतिक रूप में ही इस प्रकार विभाजित थे कि उक्त अवैज्ञानिक-काल में वह सारा प्रदेश एक साम्राज्य नहीं बन सकता था। इसके पूर्व हम यह देखते आये हैं कि किसी भी जाति की शक्ति जब बढ़ी तब समतल भूखंडों के एक सिरे से दूसरे सिरे तक उसका साम्राज्य संघटित हो उठा; किन्तु ग्रीकों के देश में यह समतल भूखंड की सुविधा न होने से उनके प्रत्येक नगर अपने इर्द-गिर्द के लघु क्षेत्रों को लेकर 'राज्य' बन गये, जो आज तक इतिहास में यूनानियों के 'नगर-राज्य' (City states) के नाम से विख्यात हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन भौगोलिक स्थितियों के कारण ये राज्य संयुक्त होकर साम्राज्य का रूप नहीं प्राप्त कर सके, उन्हीं कारणों से इनका अलग-अलग निजी विस्तार भी अधिक नहीं हो सका। इनमें का बड़ा से बड़ा राज्य भी एक ज़िले से छोटा होता था। प्रायः व्यापारिक स्वार्थ आदि के कारण इनमें पारस्परिक क्षणिक मैत्री तो स्थापित हो जाती थी, पर वास्तविक और स्थायी एकता का इनमें सदा ही अभाव रहा। सम्भव है इसका कारण यह भी हो कि यूनानी लोग स्वयं भी एक ही रक्त अथवा वंश के नहीं थे। उनमें भी कई उपशाखायें थीं, जैसे आयोनिक, इथोलियन, डोरिक आदि। इन सबके होते हुए भी एक विशेष जातीय उत्सव का प्रारम्भ ई० पू० ७७६ में हुआ, जिसके कारण इनमें कुछ एकसूत्रता आने लगी। यह उत्सव था चतुष्वार्षिक खेल-प्रतियोगिता का, जिसमें न केवल सारे ग्रीस के ही; बल्कि विदेशों के खिलाड़ी भी भाग लेते थे। इसका केन्द्र बना—ओलिम्पिया का नगर, और उसी से निकले 'ओलिम्पिक खेल'

(Olympic games) का नाम हम किसी भी प्रकार के केन्द्रीय खेल-प्रतियोगिता के लिए आज भी प्रयोग में लाते हैं। यद्यपि तब तक भी इनमें इतना आपसी सद्भाव नहीं आ पाया था कि इनके हर समय के आपसी झगड़े बन्द हो जायँ; लेकिन इतनी सहिष्णुता और विचार ज़रूर आ गया था कि खेल-प्रतियोगिता के दिनों में ईमानदारी के साथ एक विराम-सन्धि (Truce) की पाबन्दी ये लोग मानने लगे, जिसके फलस्वरूप प्रतियोगिता में दर्शक अथवा प्रतियोगी किसी भी रूप में शामिल होनेवाले बेरोक-टोक, इच्छानुसार, जहाँ चाहें आ-जा सकते थे। धीरे-धीरे ये ही विचार पुष्ट होकर राष्ट्रीय भावना में भी परिणत हो गये ।

इधर क्रमशः उक्त नगर-राज्यों की शक्ति और ऐश्वर्य भी ख़ूब बढ़ गया। विलास की सामग्रियाँ धड़ल्ले के साथ उपयोग में आने लगीं। सुन्दर वस्त्राभूषण, हाथी-दाँत की कंघियाँ, रसोईघर के लिए सोने आदि के पात्र व्यवहृत होने लगे। ई० पू० सातवीं और छठी शताब्दी में उनका व्यापार भी चरम उत्कर्ष पर पहुँच रहा था । यूनानियों का सामाजिक जीवन प्राचीन सभ्य जातियों और ईजियन लोगों से यथेष्ट भिन्न था । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यद्यपि इन लोगों ने ईजियनों की नक़ल करके मन्दिरों का निर्माण किया, तथापि पुरोहितशाही को नहीं स्थापित होने दिया। प्राचीन सैमिटिकों, ईजियनों आदि की भाँति राजकर्मचारियों से घिरे सुसंगठित राज-दरबार और राजा भी इनके यहाँ नहीं होते थे, यद्यपि कुलीन, विशिष्ट और नेता प्रकार के व्यक्ति अवश्य होते थे। कहने को तो कहा जाता है कि इतिहास में ये लोग (यूनानी) सर्वप्रथम प्रजातंत्र-वादी थे; पर वास्तविकता यह है कि इनके संगठन को कुलीनों का अधि-नायकतंत्र कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। हाँ, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि पहले ईश्वर या देवताओं के अंश समझे जानेवाले राजाओं के रूढ़िगत राजतंत्र को इन लोगों ने महत्त्व नहीं प्रदान किया। यद्यपि यह सही है कि पूर्ण जनतंत्र वहाँ नहीं था—जो आज भी सोवियट भूमि को छोड़ संसार में अन्यत्र कहीं नहीं है—फिर भी राजतंत्र की अपेक्षा अधिक विचार-स्वातंत्र्य तथा उदारता उनके संगठन में निश्चय ही थी।

ई० पू० छठी शताब्दी मानवता के इतिहास में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण काल है, जिज्ञासा की अनन्त प्रगति में एक प्रमुख मील-स्तम्भ-सा। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं यहूदियों के पैग़म्बर उन्हीं दिनों जीवन का नया सन्देश सुना रहे थे और ठीक तभी इस ओर, जब कि उनके पारस्परिक युद्ध-कलह कम हो गये, यूनानियों के मानसिक जीवन में भी एक क्रान्ति उपस्थित हो रही थी। पुरोहितों अथवा मानवोपरि राजाओं का शासन न होने से, जिस प्रकार यूनानियों के बाह्य जीवन में यथेष्ट एवं स्वस्थ स्वाधीनता विकसित हो सकी थी, उसी प्रकार उनका मस्तिष्क भी उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा था। ग्रीक तत्त्ववेत्ताओं की बातें अक्सर सुनने में आती हैं, जिनके तत्त्व-ज्ञान आदि की बातें हम अगले प्रकरण में बतलायेंगे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जिस प्रकार ज्ञान-विज्ञान की जिज्ञासा में उन दिनों यहूदी पैग़म्बर और ग्रीक तत्त्वविद् व्यस्त थे, उसी प्रकार इधर पूर्व में भारतीय और चीनी जिज्ञासु भी सत्य की शोध में जीवन खपा रहे थे। भारत के महात्मा बुद्ध तथा चीन के कनफ़्युशियस और ला-ओ-त्सि उन्हीं दिनों अपने उपदेशों को सर्वसाधारण में फैला रहे थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार में सर्वत्र ही मनुष्य मानसिक अशान्ति से प्रेरित होकर विश्व और जीवन की विभिन्न अज्ञेयताओं की उधेड़बुन में लगा हुआ था।

पर यह समझना भूल होगी कि ज्ञान-पिपासा के इस प्रबल युग में मनुष्य की शक्ति-पिपासा मिट गई थी; क्योंकि उक्त मानसिक गवेषणाओं के साथ ही साथ उधर मेद और पारसी नामक साहसी जातियाँ विशाल साम्राज्यों की स्थापना में तन्मय थीं। पारसी साम्राज्य के कर्णधारों—साइरस, कैम्बिसस और डैरियस (दारा) आदि का वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं। दारा के अश्वारोही दूत, उस समय लगभग सारे संसार में राजाज्ञाओं को लेकर निर्विघ्न घूमा करते थे। यद्यपि यह सही है कि यूनानी लोग पारसी-साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे; पर वे उस साम्राज्य से भय अवश्य खाते थे और एतदर्थ उसका सम्मान भी करते थे। पारसियों का आधिपत्य अस्वीकार करनेवाली एक और भी जाति उन दिनों थी जो मध्य-एशिया और दक्षिणी रूस में निवास करती थी और पारसी-साम्राज्य पर निरन्तर

छापे मारा करती थी। यह जाति थी सीथियन; जो प्राचीन आर्यों की ही एक शाखा थी। यद्यपि विशाल पारसी-साम्राज्य के सभी निवासी पारसी नहीं थे; फिर भी वे फ़ारसी को राज्य-भाषा स्वीकारकर, अपनी स्वतंत्र सत्ता को भूलकर, नैमित्तिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण साम्राज्य के अपने बन गये थे। सारे वाणिज्य और अर्थ के सभी साधन पराभूत सैमिटिक जातियों के हाथ में ही थे; फिर भी वे सर नहीं उठा सकते थे।

ऐसी हालत में सीथियनों का उत्पात महान् पारसी (जाति से मेद) सम्राट् डैरियस अथवा दारा के लिए असह्य हो उठा और उसने सीथियनों के दमन के लिए योरप की भूमि में प्रवेश किया। उसकी विपुल वाहिनी ने बासफोरस के जल-ग्रीव की राह बलगेरिया पहुँचकर नावों-द्वारा डैन्यूब नदी को पार किया और आगे बढ़ी। पर इस रण-यात्रा में डैरियस की सेनाओं को बड़ी हानि उठानी पड़ी। अश्वारोही सीथियन जाति ने पारसियों का कभी भी खुलकर सामना नहीं किया; बल्कि उन्होंने आज की प्रसिद्ध गुरिल्ला रण-नीति का व्यवहार किया। कभी पीछे से आक्रमण-कर किसी टुकड़ी को अस्त-व्यस्त कर दिया और कभी किसी फ़ौज की रसद और हथियार आदि छीन लिये। सारांश यह कि दारा को बड़ा लज्जित होकर वापस लौटना पड़ा।

हम पहले बतला आये हैं कि ग्रीक इन पारसियों के प्रचण्ड प्रताप की बात सुनकर उनसे भय खाते थे, अतएव उक्त अभियान में मार्गस्थ ग्रीक-नगरों को पारसी सेनाओं के लिए पुलों और नावों का प्रबन्ध करना पड़ा और डैन्यूब को पार करने में हर प्रकार की सहायता करनी पड़ी। और इस तरह जब ग्रीकों ने पारसियों की वास्तविक शक्ति का अनुमान आँखों देखकर लगा लिया तब उनका भय बहुत कुछ दूर हो गया। उक्त अभिमान से लौटते हुए पारसी सेनाओं के एक भाग ने थेस और मेसिडोनिया पर भी आधिपत्य जमा लिया था, इसके अतिरिक्त एशिया में स्थित ग्रीकों पर पहले ही से पारसियों का प्रभुत्व स्थापित था।

किन्तु उक्त रण-यात्रा के १३ वर्ष बाद ही ई० पू० ४९४ में एशिया के यूनानी नगरों ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। योरप के यूनानियों

को भी अपने सजातियों के सहायतार्थ इस झगड़े में पड़ना पड़ा। दारा के क्रोध का ठिकाना न रहा और उसने इन ग्रीकों का सर कुचल देने का संकल्प कर लिया। फिनिशियन जहाज़ी बेड़ों की सहायता से उसने ग्रीकों के सभी द्वीपों पर विजय प्राप्त कर ली और अन्त में ई० पू० ४९० में एथेन्स पर प्रमुख आक्रमण किया। एक बहुत बड़े जहाज़ी बेड़े में पारसी सेनायें एथेन्स के उत्तर में मैराथन नामक स्थान पर उतरीं; पर एथेन्स की सुव्यवस्थित सेना के हाथ उन्हें गहरी हार खानी पड़ी। यहाँ एक और दिलचस्प बात का वर्णन कर देना उचित प्रतीत होता है। हम पहले ही कह आये हैं कि ग्रीक-नगर-राज्यों में परस्पर एकता एवं प्रेम का अभाव ही नहीं रहता था, बल्कि उलटे अधिकतर कलह और विद्वेष भी रहता था। लेकिन ऐसी स्थिति में भी एथेन्सवालों ने जब अपने प्रबल प्रतिद्वन्द्वी स्पार्टा के नगर-राज्य को शीघ्रगामी दूत-द्वारा रातों-रात यह समाचार भेजा कि एथेन्स पर पारसियों का आक्रमण हो गया है और ग्रीक जाति की आज़ादी ख़तरे में है, तब सारा भेद-भाव भूलकर स्पार्टा की वाहिनी एथेन्स की सहायता को चल पड़ी, यद्यपि उसके पहुँचने के पूर्व ही पारसी आक्रमणकारी मार भगाये गये थे, और इस तरह सहायता को आई हुई स्पार्टन सेना को मैदान में काम आये सैनिकों के शव देखकर ही लौट जाना पड़ा। यह था ग्रीकों और पार्सीयों का पहला युद्ध।

इस पराजय का समाचार सुनने के थोड़े ही दिनों बाद दारा की मृत्यु हो गई। उसका उत्तराधिकारी हुआ उसका सुत्र ज़रकसीज़। उसने उक्त पराजय का भीषण बदला लेने के विचार से सैन्य-संगठन प्रारम्भ किया। वह चार वर्षों तक लगातार इस काम में व्यस्त रहा। कहा जाता है कि इतनी बड़ी विशाल सेना उसके पहले कभी भी नहीं एकत्रित हुई थी, यद्यपि वह एक भेड़िया-धसान-सा ही था। और अन्ततः ई० पू० ४८० में इस विशाल सेना और एक विराट् जंगी बेड़े ने कूच किया। उन्होंने नावों के पुल-द्वारा डार्डेनिलीज़ नामक जल-ग्रीव को पार किया और यूनान में घुस पड़े। स्पार्टा के लियोनिडस नामक एक नरपुंगव अपने १,४०० सैनिकों के साथ ज़रकसीज़ की सेना का स्वागत करने के लिए

उतावले हो रहे थे, उन्हें कुछ वर्ष पूर्व मैराथन के मैदान में एथेन्स-द्वारा प्राप्त की गई विजय-कीर्ति की बराबरी का ज़बर्दस्त हौसला था। थर्मोपली की तंग घाटी में वह शत्रु-सेना से जा भिड़ा और वह तथा उसके सिपाही ऐसी वीरता से लड़े कि दुश्मनों के दाँत खट्टे हो गये, यद्यपि इस युद्ध में एक भी यूनानी सैनिक जीवित नहीं बचा। पर यह मूल्यवान् बलिदान व्यर्थ जाता हुआ दृष्टिगोचर हुआ, क्योंकि एक पर एक ग्रीक नगरों ने आत्म-समर्पण करना शुरू कर दिया।

लेकिन एक चमत्कारपूर्ण ढंग पर एथेन्स और स्पार्टा ने ग्रीकों के अस्त होते प्रताप की रक्षा कर ली। एथेन्स के प्रसिद्ध नेता थेमिस्टोकिल्स की योजना के अनुसार पारसी बेड़े को एक छोटे-से यूनानी बेड़े ने सैलाकिस की खाड़ी में विध्वंस कर डाला। यह ऐसी पराजय थी जिससे खिन्न और परेशान होकर ज़रकसीज़ अपनी आधी सेना के साथ अपनी राजधानी की ओर लौट पड़ा। शेष पैदल सेना को साल भर बाद स्पार्टा और उसकी मित्र-सेनाओं ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। समुद्री जंगी बेड़े का जो कुछ अवशेष रह गया था यूनानियों ने उसका भी एशिया माइनर के माइकेल नामक स्थान पर अन्त कर दिया।

इस पराजय के साथ ही पारसी-साम्राज्य का पराभव प्रारम्भ हो गया। माइकेल की हार के बाद ही बहुत-से उपद्रव उठ खड़े हुए और ई० पू० ४६५ में स्वयं ज़रकसीज़ की हत्या किसी आततायी ने कर डाली। उधर मिस्र, सीरिया और मेद में भी विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित हो उठी और इस प्रकार सुनियंत्रित पारसी-साम्राज्य की सुख-शान्ति सदा के लिए अतीत के गर्भ में विलीन हो गई।

अन्ततः सभी यूनानी नगर-राज्य स्वतंत्र हो गये और पारसी-साम्राज्य के आक्रमणों का भय समाप्त हो गया। इसके साथ ही यूनानियों ने अपनी इतनी महँगी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए एक योजना बनाई। सभी नगर-राज्यों ने एथेन्स के नेतृत्व में आत्म-रक्षा के लिए अपना एक संघ स्थापित कर डाला। आत्म-रक्षा के संयुक्त साधनों को मुहय्या करने में सभी राज्य समान रूप से अर्थ-व्यय करते थे। उक्त संघ में दो सौ से अधिक नगर सम्मिलित हो गये थे।

ग्रीक-संस्कृति और वैभव

पारस की पराजय के बाद के डेढ़ सौ वर्ष यूनान के लिए अत्यन्त वैभव-मय थे। यद्यपि इस समूची अवधि में नेतृत्व पाने और अग्रणी होने के लिए सभी नगर-राज्यों में एक अस्वस्थ प्रतियोगिता और होड़ चलती रही, फिर भी मनुष्य के इतिहास में तत्कालीन यूनानी लोग एक पथ-प्रदर्शक के तुल्य ही सिद्ध हुए। उक्त प्रतियोगिता के फलस्वरूप ई० पू० ४३१ से लेकर ई० पू० ४०४ तक चलनेवाले एथेन्स और स्पार्टा के युद्ध का इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। एथेन्स का नेतृत्व उन दिनों (ई० पू० ४६६ से ४२८ तक) पैरिक्लीज़ नामक एक महापुरुष के हाथ में था, पारसियों-द्वारा विनष्ट एथेन्स नगर के पुर्नानर्माण का श्रेय उसे ही प्राप्त है, और आज जो सुन्दर भग्नावशेष उक्त नगर के हमें देखने को मिलते हैं वे भी इसी महान्चेता-द्वारा निर्मित एथेन्स के चिह्न हैं। उसने न केवल इन बाह्य निर्माणों से ही सन्तुष्ट होकर मौन साध लिया; बल्कि हर प्रकार के ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल को भी उन्नत बनाने के लिए आजीवन प्रयत्न करता रहा। उसके नेतृत्व में एथेन्स कलाकारों, शिल्पियों, कवियों, नाटककारों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, ज्योतिषियों आदि का केन्द्र हो रहा था। और यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से यूनान—तत्कालीन यूनान—का पतन शीघ्र ही हो गया; पर एथेन्स के मानसिक जीवन को पैरिक्लीज़ ने जो नव-सन्देश और स्फूर्ति प्रदान की थी, वह उसकी मृत्यु और यूनान के पराभव के बाद भी बना रहा।

यूनान के उस स्वर्णयुग में वहाँ अनेक ऐसे विचारवेत्ता पैदा हुए, इतिहास जिनका नाम लेकर आज भी गर्व अनुभव करता है, मानवता फूली नहीं समाती है। इनमें सुकरात, अफलातून (Plato) और अरस्तू अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि पैरिक्लीज़ से भी बहुत पहले से यूनानियों में सार्वजनिक वाद-विवाद की प्रथा प्रचलित थी, जो विकसित होकर आगे और भी महत्त्वपूर्ण बन गई। यहाँ तक कि सभी सार्वजनिक हित के कामों का फ़ैसला जन-सभाओं-द्वारा ही होने लगा और उन सभाओं के तर्क-वितर्क में भाग लेना शिक्षा और योग्यता का मान-दण्ड बन गया

यद्यपि वहाँ अधिकांश निस्सार तर्क ही सुनने को मिलते थे। इन वाद-विवादों में भाग लेने की योग्यता प्रदान करने के लिए राज्य-सत्ता-द्वारा मान्य शिक्षकों का एक दल बन गया. जिसे सोफ़िस्ट कहा जाता था। इसी युग में एक व्यक्ति ऐसा आविर्भूत हुआ जो जन-सभाओं में बड़ी चातुरी और युक्तिपूर्वक सोफ़िस्टों और उनके शिष्यों के तर्कों का निस्सङ्कोच खण्डन कर देता था। धीरे-धीरे अन्य मेधावी युवक भी उसके व्यक्तित्व और सूक्ष्म तर्कशैली से प्रभावित होकर उसके साथ होने लगे। इससे पुराने विचारवालों में एक बेचैनी और घबराहट-सी फैल गई और अन्त में उसे ई० पू० ३९९ में जन-साधारण में अशान्ति फैलाने का दोष लगाकर प्राण-दण्ड दे दिया गया। लेकिन उसके प्राण-दण्ड से विचारों की अशान्ति कम नहीं हुई और जनता में उसकी शिक्षा का प्रचार उसके शिष्यों-द्वारा बराबर होता रहा।

सुकरात के अनुयायी युवकों में प्लैटो (अफ़लातून) का नाम चिर-स्मरणीय है। सुकरात की मृत्यु के बाद वह दर्शन और राजनीतिशास्त्र की शिक्षा दिया करता था। मानव-इतिहास में वह पहला व्यक्ति है जिसने एक आदर्श मानव-समाज की कल्पना की और तत्कालीन समाज-व्यवस्था की खुले शब्दों में भर्त्सना की। उसने 'रिपब्लिक' अर्थात् जनतंत्र नामक एक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें उसने कुलीनों-द्वारा शासित एक प्रकार के अधिनायकतंत्र की कल्पना की है और वास्तव में आज 'जनतंत्र' शब्द को लेकर संसार में जो बौद्धिक द्वन्द्व चल रहा है उसका जनक अफ़लातून का 'रिपब्लिक' ही है। अफ़लातून का एक दूसरा अधूरा ग्रन्थ 'लॉ' नामक मिलता है, जिसमें उसने एक आदर्श और सर्वांगपूर्ण व्यवस्था के लिए नियम-विधानों की योजना पेश की है।

इसके बाद के यूनानी पंडितों में अफ़लातून के प्रधान शिष्य अरस्तू का नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय है। उसने अध्ययन को मानसिक कला-बाज़ी की सतह से खींचकर वास्तविकता की ज़मीन पर ला खड़ा किया। वह अपने साथियों और शिष्यों को वास्तविक बातों (तथ्यों) का संग्रह करने के लिए भेजा करता था। यद्यपि राजनीति-विज्ञान को दर्शन से अलग करने का श्रेय अफ़लातून को ही है; पर राजनीति को विज्ञान

की श्रेणी में लाने के लिए अरस्तू ही ज़िम्मेदार है; और वह इसी लिए उक्त विज्ञान का प्रवर्तक कहा जाता है। चिन्तन का आधार चूँकि उसने तथ्यों को बनाया, अतः स्वभावतः उसे भौतिकता को ऊँचा स्थान देना पड़ा। उसे लोग भौतिक विज्ञान का पिता सम्भवतः इसी कारण कहते हैं। उसकी विचार-पद्धति ने तर्क-शास्त्र को भी खूब उन्नत बनाया। यह विचारक मेसिडोनिया प्रान्त के एक नगर में पैदा हुआ था, जहाँ के राजा के दरबार में उसका पिता वैद्य था। मेसोडिनिया का प्रसिद्ध सम्राट् सिकन्दर महान् तब युवक था। और अरस्तू ने उसे पढ़ाया था।

इन विचारकों ने मंदिरों के अज्ञान-अंधकार में पलनेवाले जादू-टोना और व्यर्थ की बिभीषिकाओं का अन्त कर दिया और स्वतंत्र विचारों की सृष्टि की।

छठा प्रकरण

बुद्ध का जीवन और उपदेश

जैसा कि हम एक स्थल पर कह आये हैं, जिस समय यहूदियों के पैग़म्बर इसाया बैबिलन में अपनी दिव्यवाणी सुना रहे थे, ऐफिसस में बैठे हुए हेराक्लिटीज़ प्राकृतिक जगत् के तत्त्वों का दार्शनिक विवेचन कर रहे थे और जिस समय सुदूर-पूर्व में भी एक विचार-क्रान्ति की आँधी डोल रही थी, लगभग उसी समय हमारे देश भारतवर्ष में एक महापुरुष अपनी शिक्षा से जन-साधारण के विचारों में एक भयानक उथल-पुथल पैदा कर रहे थे। उनका नाम हम सभी भगवान् बुद्ध करके जानते हैं। ई० पू० छठी शताब्दी निस्सन्देह मानवता के इतिहास में अद्वितीय और विलक्षण समय रहा होगा। भारत का आरम्भिक इतिहास आज भी अन्धकार के गर्भ में छिपा हुआ है, फिर भी जो कुछ विद्वानों ने सतत परिश्रम से खोज निकाला है उससे काफ़ी प्रकाश पड़ा है।

पूर्व वर्णित प्राचीन आर्यों का समाज और धर्म परिपक्व हो चला था। समाज में दो श्रेणियाँ निखरकर प्रकट हो रही थीं। शासन और सरदारी करनेवाले क्षत्रिय और मंत्र-यज्ञ आदि के अधिकारी ब्राह्मणों की उच्च श्रेणियाँ; और शेषसमाज "विशः" (जिससे वैश्य बना है और जिसका अर्थ है 'साधारण') और दास की निम्न श्रेणी का था। धीरे-धीरे यज्ञों के कर्म-काण्ड का आडम्बर खूब बढ़ गया, अतएव जंगल में रहनेवाले दार्शनिक मुनियों ने कर्म-काण्ड के विरुद्ध एक आन्दोलन छेड़ दिया जिसके फलस्वरूप उपनिषदों की सृष्टि हुई। वास्तविक तथ्य की प्राप्ति के इच्छुक दार्शनिक चिन्तन की ओर झुकने लगे। फिर भी सर्व-साधारण की संतुष्टि न हो सकी। उनकी पहुँच दार्शनिक ज्ञान तक न हो सकी। यज्ञों के कर्म-काण्ड अथवा जड़-जन्तु-पूजा तक ही उनकी दौड़ सीमित

रही। लोगों में स्वभावतः एक असंतोष दृष्टिगोचर होने लगा, मानो ज्ञान के किसी सरल मार्ग की प्राप्ति के लिए उतावले हो रहे थे।

आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले श्रावस्ती (आधुनिक नाम 'सहेत-महेत) से साठ मील की दूरी पर रोहिणी नदी के पश्चिमी किनारे कपिल-वस्तु नामक नगर था। यह नगर तब शाक्यों के राष्ट्र-संघ की राजधानी था। शुद्धोदन नामक एक यशस्वी व्यक्ति उन दिनों कपिलवस्तु के राष्ट्र-पति थे। उनकी एक रानी महामाया ने मैके जाते समय रास्ते में लुम्बिनी के सुन्दर वन में एक पुत्र को जन्म दिया। लुम्बिनी को आज रुम्मिनदेई कहते हैं, जो बस्ती ज़िले की चरम उत्तर सीमा पर नैपाल की तराई में स्थित है।

बालक का नाम रक्खा गया सिद्धार्थ। बचपन से ही चिन्तनशील उसकी प्रवृत्ति थी। छोटी-छोटी घटनायें उसके हृदय पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती थीं। बुढ़ापा, बीमारी और मृत्यु क्यों? ये प्रश्न यौवन में प्रवेश करते-करते उसके मस्तिष्क को मथने लगे। आख़िर इस जीवन का उपयोग ही क्या जिसमें इतनी लाचारियाँ भरी पड़ी हों? एक राजा है, एक भिखारी है; एक स्वस्थ है, एक बीमार है! और जीवन की इन कुरूपताओं को दूर करने का कोई साधन आदमी के हाथ में नहीं है? उसके विचारों में क्रान्ति की एक आँधी-सी उठ खड़ी हुई।

पिता ने राजकुमार की गति-विधि देखी और विवाह का बन्धन लगाकर उसकी प्रवृत्तियों को राजसी जीवन के विलासों की ओर फेर देने की कोशिश की। उसकी विचार-धारा की दिशा बदल देने के लिए लक्ष्मी की सारी शक्ति लगा दी गई। पर उसकी शंकायें प्रबल से प्रबलतर ही होती गईं। सिद्धार्थ के लिए यह विचार ही असह्य हो उठा कि मनुष्य यों ही परवशता में पैदा होता रहे और मरता-जीता रहे। और इन अन्तरद्वन्द्वों के फलस्वरूप उसके मन का विद्रोह एक दिन इतना प्रबल हो उठा कि वह अपनी सोई हुई पत्नी और स्वप्न-भग्न नवजात पुत्र को छोड़कर राजप्रासाद से रात को चुपके से निकल गया। उसे निर्वाण—रोग, दरिद्रता और मृत्यु से छुटकारा—चाहिए, उसने निश्चय कर लिया कि वह उसी की खोज में अपने को खपा देगा।

राजमहल से बाहर क़दम रखते ही उसका मन और भी परेशान होने लगा। महलों का बन्धन टूटा तो सही; पर आख़िर वह कहाँ खोजे अपना अभीष्ट निर्वाण? उसे याद आई प्राचीन तीर्थ-स्थानों की, और उसने काशी, प्रयाग आदि की ख़ाक छाननी शुरू कर दी। पर उसका विद्रोह और भी उग्रतर हो उठा, जब उसने देखा कि निर्वाण का मार्ग बताने का दावा लेकर खड़े देवस्थानों में बलि की होड़ चल रही हैं, अनाचार का बाज़ार गर्म है। उसने देखा कि पुरोहितशाही के पूजा-पाठ आदि के पाखंडों में मानवता की सारी चिन्ता-शीलता अवरुद्ध हो गई है, श्रेणियों और जातियों का अस्तित्व मनुष्यता के लिए अभिशाप बन गया है, पुरोहित लोग मिथ्या धारणाओं और आडम्बर का जाल फैलाकर जनता के दिमाग़ पर शासन कर रहे हैं और मनुष्य को कल्याण का मार्ग बतलाने की अपेक्षा राज्य-शक्ति प्राप्त करने के ही षड्यन्त्रों में दिन-रात निमग्न हैं। इन सब सचाइयों की अनुभूति से उसे बड़ी निराशा हुई।

धर्म-ध्वजियों की ऊँची दूकानों से दूर हटकर एकान्त की शरण उसे लेनी पड़ी। वर्षों वह निर्जन वनों की ख़ाक छानता फिरा। अन्त में एक दिन गया के समीप एक बट-वृक्ष के नीचे वह समाधिस्थ होकर बैठ गया। और जो वस्तु उसे वर्षों की तपस्या और अनेक कष्ट-सहन के उपरान्त भी नहीं प्राप्त हो सकी थी, वही इस समाधि के दिनों अक-स्मात् उसे मिल गई। उसे प्रकाश मिला, 'बोध' हुआ। इस बुद्धत्व के प्राप्ति के साथ ही सिद्धार्थ 'बुद्ध' बन गया और वह बट का वृक्ष कहलाया 'बोधि-वृक्ष'।

अब इस खोजी को ऐसे सहायकों और सहकारियों की आवश्यकता हुई, जो उसकी खोज और उसके नवीन ज्ञान को ग्रहण करें और उन्हें सर्व-साधारण में फैलायें। इसी समय उसे उन पाँच साथियों की याद आई जो उसका साथ इसलिए छोड़ गये थे कि उनका विश्वास व्यर्थ कष्ट-सहन, उपवास, तप आदि के ढकोसलों पर से उठ गया था। बुद्धत्व प्राप्त करने पर जब वह घूमते-घूमते इसिपत्तन (ऋषिपत्तन) या वर्तमान सारनाथ के मृग-वन में पहुँचा तब अकस्मात् उसके पुराने पाँचों

साथी मिल गये। पहले उन्होंने बुद्ध की उपेक्षा करनी चाही और बार-बार उसके ज्ञान और 'बोध' के प्रति शंकायें करते रहे; पर अन्त में उन्हें समाधान प्राप्त हो गया और उन्होंने बुद्ध की शिक्षायें ग्रहण करनी शुरू कर दीं।

प्रबुद्ध सन्यासी की शिक्षा थी—जिन्होंने संसार को त्याग दिया है, उन्हें दो प्रकार की 'अति' से बचना चाहिए। एक है सुख और विलासमय जीवन में अति प्रवृत्ति, जो मनुष्य को नीचे गिरानेवाली होती है; दूसरा है व्यर्थ के बलिदान और अनावश्यक कष्टों का जीवन, जो अत्यन्त ही उपेक्षणीय है। सन्यासी और संसारी दोनों को एक मध्यम मार्ग से होकर चलना चाहिए जो ज्ञान, सम्बोधि और निर्वाण का मार्ग है। वह मध्यम मार्ग है अष्टाङ्गिक सन्मार्ग; अर्थात् सम्यक् दृष्टि, सत्सङ्कल्प, सद्‌वचन, सदाचरण, साधुजीविकालम्बन, आत्म-संयम, सद्-विचार और सच्चिन्तन।

उक्त शिक्षा से आज भी यह ज़ाहिर होता है कि मानवता के वे सारे दुख, जिनका निवारण करने की इच्छा लेकर राजकुमार सिद्धार्थ सन्यासी, त्यागी और बुद्ध बने थे, दूर नहीं हो सके हैं। फिर भी उनकी शिक्षाओं का एक ज़बर्दस्त ऐतिहासिक महत्त्व और ऐतिहासिक 'रोल' था। अपनी शिक्षाओं का प्रचार वह अपनी आयु के शेष पैंतालिस वर्षों में, कोशल से विदर्भ और राजगृह तक घूम-घूमकर निरन्तर गति से करते रहे। शिक्षार्थियों और ज्ञान-पिपासुओं की भीड़ उसके इर्द-गिर्द जमा होने लगी। ख़बर बिजली की तरह फैल गई कि एक नवीन सन्यासी समता का उपदेश करता है और कहता फिरता है कि ज्ञान प्राप्त करने का प्रत्येक प्राणी को समान अधिकार है। अभी तक मठ और राज्य ने ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार एक वर्गविशेष तक ही सीमित कर रक्खा था, अतएव अभिजात्य-वर्ग के धार्मिक और बौद्धिक एक तन्त्र के विरुद्ध उठनेवाली विद्रोही वाणी पर निम्न वर्ग—'विश' श्रेणी—के प्राणी आनन्द से नाच उठे।

इस नई आवाज़ को सुनकर पुरोहितों और मठाधीशों के क्रोध की आग भड़क उठी। राजाओं की भृकुटियाँ भी तन गईं और इस विद्रोही सन्यासी के मार्ग में रोड़े बिछाये जाने लगे, तरह-तरह के षड्यन्त्रों की सृष्टि

होने लगी। किन्तु विरोधियों को सफलता नहीं मिली। पहले उपदेश और शिक्षा संस्कृत में दी जाती थी, जिससे सर्वसाधारण बहुत ही कम लाभ उठा पाते थे, बुद्ध ने अपनी शिक्षा का माध्यम बनाया जनता की भाषा 'पाली' को। अतएव इस धार्मिक प्रजातंत्र के सामने एकतंत्र का पुराना क़िला जड़मूल से काँप गया और सभी विरोधी एक-एक करके इस नवीन धर्म में दीक्षित हो गये।

इस प्रकार लगातार पैंतालिस वर्षों तक धर्म-प्रचार कर चुकने पर, एक दिन कुशीनगर (वर्तमान गोरखपुर ज़िले का 'कसया' नामक क़स्बा) की राह में पावा नाम के एक गाँव में ई० पू० ५४५ में उस महान् युगान्तरकारी जीवन का अन्त हो गया।

अब तक उनके लाखों अनुयायी बन चुके थे। 'निर्वाण' का समाचार पाकर चारों तरफ़ के राज्यों के दूत आ उपस्थित हुए। बुद्ध का भस्मावशेष आठ भागों में विभक्त किया गया, और विभिन्न राष्ट्र-दूतों को दे दिया गया। अपने-अपने राज्यों में ले जाकर राष्ट्र-दूतों ने उस भस्मावशेष के ऊपर बड़े-बड़े स्तम्भ बनवाये। अन्त में निर्वाण के बाद ५०० बड़े भिक्षु राजगृह में एकत्र हुए और उन्होंने सम्मिलित रूप से बुद्ध के उपदेशों को गाया।

सिकन्दर का साम्राज्य

एथेन्स और स्पार्टा के दीर्घ कालव्यापी (ई० पू० ४३१ से ४०४ तक) युद्ध-विग्रह से यूनान का विनाश हो रहा था। ऐतिहासिकों ने उक्त युद्ध को पैलो पौनेशियन युद्ध के नाम से पुकारा है। इसी समय उक्त राज्यों का एक क्षुद्र पड़ोसी, मैसेडोनिया क्रमशः शक्तिशाली और अधिकाधिक सभ्य होता जा रहा था। यूनानियों के छोटे नगर-राज्य नेतृत्व के लिए परस्पर युद्धरत रहते थे, यह हम पहले ही बतला चुके हैं। ई० पू० ३७१ तक यूनान का नेतृत्व निर्द्वन्द्वभाव से स्थापित रहा; परन्तु उक्त वर्ष ल्युक्ट्रा की रण-भूमि में थेब ने यूनान को पराज़ितकर अपना नेतृत्व क़ायम किया। कहा जाता है कि स्पार्टन सैनिकों को पराजित कर सकने का एकमात्र कारण यह था कि थिबियनों के दो नेताओं इपैमि-

नोडास और पोलोपिडास ने एक नई युद्ध-प्रणाली (War Tactics) का आविष्कार किया था। यह प्रणाली थी आधुनिक युद्धों में रोज़ ही कार्यान्वित होनेवाले 'शाक ट्रूप्स' (Shock Troops) के उपयोग, जिसमें शत्रु के दाँयें-बाँयें से आकर अकस्मात् पार्श्व-भागों पर हमला करके उन्हें तितर-बितर कर देते हैं।

उन्हीं दिनों फ़िलिप नामक एक अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी और योग्य व्यक्ति थिबियनों के यहाँ बन्धक के तौर पर बन्दी था। उसने थिबियनों के सैनिक संगठन का अध्ययन किया और साथ ही उनकी दुर्बलता पर भी ख़ूब ध्यान रक्खा। वह मैसेडोनिया का निवासी था और जब बन्धन से मुक्त होकर अपने देश को लौटा तब उसने प्रतिशोध लेने का घोर संकल्प कर लिया।

इसी बीच मैसेडोनिया के राजा परिडिकास तृतीय की मृत्यु हो गई। फ़िलिप ने राज्य-अधिकार अपने हाथों में लिया और शीघ्र ही सेना का पुनःसंगठन करने में लग गया। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए स्वभावतः ही यथेष्ट धन की आवश्यकता थी, अतः उसने अपने राज्य की पूर्वी सीमा के पार माउन्ड मैङ्गियस के सोने की खानों पर क़ब्जा कर लिया। थिबिया के अनुभवों से लाभ उठाकर उसने युद्ध-कौशल को जो नई चीज़ प्रदान की वह था सुव्यवस्थित घुड़सवार सेना का निर्माण। पिछले हज़ारों वर्षों से पैदल और रथारोही सैनिकों द्वारा ही युद्धों का निर्णय होता आया था। यद्यपि इक्के-दुक्के अव्यवस्थित घुड़सवार भी युद्धों में शामिल होते थे किन्तु व्यवस्थित रिसालों की रचना और 'शाक ट्रूप' की तरह उनका उपयोग करने की नवीनता फ़िलिप ने ही ईजाद की। उसने पैदल सेनाओं को भी व्यूह-रचना सिखलाई।

इस प्रकार सेना को नये ढंग पर संगठित करके वह विजय और साम्राज्य-विस्तार की ओर अग्रसर हुआ। वह थिसली की राह यूनान तक पहुँच गया और चिरोनिया के युद्ध में, ई०पू० ३३८, में यूनानियों की संयुक्त सेना को हराकर उसने स्पार्टा को छोड़ समूचे यूनान पर अधिकार कर लिया। इसके बाद अगले साल उसने कोरिन्थ में यूनानी राज्यों की एक कांग्रेस निमन्त्रित की, जिसमें वह संयुक्त यूनान और मैसेडोनिया का

नेता चुना गया, और ई० पू० ३३६ में विश्व-विजय की तैयारीकर एशिया के ह्रासोन्मुख पारसी-साम्राज्य की ओर बढ़ा। किन्तु इसी बीच रहस्यमय ढंग से उसका वध कर दिया गया।

उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र सिकन्दर, जो इतिहास में महान् सिकन्दर और विश्वविजेता के रूप में प्रसिद्ध है, अधिकारारूढ़ हुआ। फ़िलिप ने सिकन्दर की शिक्षा के लिए न केवल महान् दार्शनिक अरस्तू को ही नियुक्त किया था, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं; बल्कि उसने उसे अपने युद्ध-सम्बन्धी अनुभवों का ज्ञान कराने के अतिरिक्त तत्कालीन श्रेष्ठतम रण-कौशल की शिक्षा भी स्वयं दी थी। इतना ही नहीं, उसने अपनी विजय-यात्राओं में साथ रखकर सिकन्दर को कार्यरूप में युद्ध-कौशल की शिक्षा दी थी। थिरोनिया के भाग्य-निर्णायक युद्ध में अठारह वर्षीय किशोर सिकन्दर ने रिसालों का नेतृत्व किया था। इसी लिए जब केवल बीस वर्ष की अवस्था में सिकन्दर ने राज्य-कार्य अपने हाथों में लिया तो उसे तनिक भी कठिनाई उस महान् उत्तरदायित्व को सँभालने में न हुई। उसने अपने पिता द्वारा प्रारम्भ किये गये विजय-अभियान को जारी रक्खा।

केवल दो वर्ष के क्षुद्र समय में ही उसने मैसेडोनिया और यूनान में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली और ई० पू० ३३४ में हेलेस्पान्ट पार करके वह एशिया में घुस पड़ा। ग्रैनिकस नदी के किनारे पारस की विशाल सेना ने उसका सामना किया; पर उसे पराजित होना पड़ा। इस प्रकार विजय प्राप्तकर सिकन्दर ने एशियामाइनर के अनेकों नगरों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। कहा जाता है कि इस युद्ध में सिकन्दर की फ़ौज में ३०,००० पैदल और, ५,००० घुड़सवार थे।

इतना हो जाने पर भी अभी समुद्र पर पारसवालों का ही आधिपत्य था, और जहाज़ी बेड़े युद्ध में तभी यथेष्ट महत्त्व प्राप्त कर चुके थे। अतएव अपनी विजय को पूर्ण बनाने के लिए सिकन्दर ने टायर और सीडन में स्थित पार्सीक जहाज़ी बेड़ों को विध्वंस करना अत्यन्त आवश्यक समझा और दूसरे ही साल ईसस के रण-क्षेत्र में सिलिसियन गेट्स के पास पारसवालों से उसकी दूसरी मुठभेड़ हुई। यह ई० पू० ३३३ की घटना

है, जब डैरियस तृतीय ने एक विशाल, पर अत्यन्त ही अव्यवस्थित और बेतरतीब सेना के साथ सिकंदर का सामना किया। किन्तु सिकन्दर ने इस बेतरतीब सेना को मार भगाया और सीडन ने तुरन्त ही आत्म-समर्पण कर दिया। यद्यपि टापा ने वीरतापूर्वक मोर्चा लिया, पर उसका भी पतन हो गया और विजेताओं ने जी खोलकर लूट-पाट की। अन्त में ई० पू० ३३२ में सिकन्दर मिस्र में भी पिल पड़ा और वहाँ से पारसियों को निकालकर शासन-सूत्र अपने हाथों में ले लिया। उसने पराजित नगर और बन्दरगाह टायर के व्यापार-क्षेत्र को विस्तृत करने के उद्देश्य से नील नदी के मुहाने पर अलेक्ज़ेन्ड्रिया और अलेक्ज़ेन्ड्रेटा के विशाल नगर बसाये। ये नगर शीघ्र ही बड़े व्यापारिक केन्द्र बन गये और फिनिशियन नगरों का सारा व्यापार वहाँ उठ आया। प्रमुख व्यापारियों के रूप में यहाँ यहूदी दृष्टिगोचर हुए।

ई० पू० ३३१ के वसन्त में टाइग्रिस के आगे प्राचीन गौरवशाली नगर निन्नेव के खँडहरों के पास आरबेला के मैदान में दूसरी बार डैरियस तृतीय ने सिकन्दर का सामना किया, जो टायर के रास्ते बैबिलन पर आक्रमण करने जा रहा था। कहा जाता है कि डैरियस की सेना सिकन्दर की सेना की दसगुनी थी, फिर भी उसे बुरी तरह हार खानी पड़ी। इस विजय के बाद सिकन्दर सूसा और पर्सेपोलिस गया, जो पारस की क्रमशः शीतकालीन और ग्रीष्मकालीन राजधानियाँ थीं। इसके पहले ही वह बैबिलन के समृद्धिशाली नगर को लूट-पाट आया था। इस यात्रा में उसे अनन्त धन-राशि प्राप्त हुई थी, जिसे खुले हाथों उसने अपने मित्रों में लुटाया। खूब जश्न मनाया गया, मदिरा के दौर चले और चक्रवर्ती सम्राट् डैरियस का राजमहल इस विध्वंसात्मक आनन्दोत्सव के सिलसिले में जला दिया गया।

वहाँ से सिकन्दर अत्यन्त शीघ्र ही मध्य-एशिया की ओर मुड़ा और पारसवालों के साम्राज्य को अन्तिम सीमा तक रौंद आया। उत्तर में वह मेद-राज्य की प्राचीन राजधानी एकबताना तक और पूर्व में ऑक्सस नदी तथा जैक्सार्टिज़ तक चला गया। इस प्रकार चीन के आधे रास्ते तक जाकर वह दक्षिण की ओर मुड़ा। पश्चिमी तुर्किस्तान की पहाड़ियों

की राह हिरात, (जिसे उसने स्वंय बसाया) क़ाबुल और ख़ैबर की घाटियों से होता हुआ भारतवर्ष में घुस पड़ा। इस देश में पहुँचने पर झेलम नदी के मुहाने पर भारतीय राजा पुरु या पोरस से उसकी मुठभेड़ हुई। यहाँ पर मैसिडोनियन सेना को पहले-पहल युद्ध में हाथियों का उपयोग दिखलाई पड़ा। इस युद्ध में सिकन्दर विजयी हुआ; पर कहते हैं कि वातावरण की गर्मी से घबराकर उसके सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। अस्तु, किसी प्रकार सिकन्दर ने सिन्ध नदी पार करके बिलूचिस्तान के किनारे-किनारे होता हुआ पर्सिपोलिस और बैबिलन वापस चला गया। इस विजय-अभियान में सिकन्दर को सात वर्ष लग गये थे। ई० पू० ३२४ में सूसा वापस जाकर वह अपने विशाल साम्राज्य को व्यवस्थित बनाने की योजना करने लगा। उसने प्राचीन पारस के सम्राटों की भाँति मुकुट और वस्त्राभूषण आदि धारण करना प्रारम्भ कर दिया। न केवल इतना ही; बल्कि जहाँ कहीं भी वह गया वहाँ के पुरोहितों को मिलाने की कोशिश में लगा रहा और अन्ततः स्वयं को एक राजर्षि समझने लगा। कुछ पंडितों का मत है कि सिकन्दर के इस उदाहरण ने आगे चलकर, 'राजाओं के ईश्वरप्रदत्त अधिकार' (Divine Right of Kings) की भावना की सृष्टि करने में यथेष्ट प्रभाव डाला। इसके परवर्ती रोमन-साम्राज्य के स्थापन में इस विचार का बहुत बड़ा हाथ रहा। उसने अन्तर्राष्ट्रीय विवाहों के द्वारा भी अपनी स्थिति को दृढ़ करने का उद्योग किया और अपने कई सेनानायकों का विवाह बैबिलन आदि पारसी नगरों की स्त्रियों से करा दिया।

अन्त में एक दिन जब कि वह अरब के रेगिस्तानी प्रदेश पर आक्रमण करने की तैयारियाँ समाप्त कर चुका था, तब नये विजय-अभियान के उपलक्ष्य में एक दावत का देना निश्चित हुआ। उसी दावत में कई दिनों तक निरन्तर और निर्बाध मदिरापान करने के फलस्वरूप सिकन्दर को ऐसा ज्वर आया कि ई० पू० ३२३ में केवल तैंतिस साल की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई।

उसकी मृत्यु के बाद उसका विशाल साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया। आगामी तीन शताब्दियों तक उक्त विश्व-व्यापी साम्राज्य का

अधिकांश विभाग इतना अव्यवस्थित और अशांत रहा कि जब तक परवर्ती रोम-साम्राज्य की स्थापना नहीं हुई तब तक का इतिहास बर्बर आक्रमणों और युद्ध-विग्रह का ही एक मात्र इतिहास है। सिकन्दर के प्रमुख सेनानियों ने ही कई विस्तृत भूखंडों पर अपना अधिकार जमा लिया और राजा बन बैठे। हिन्दूकुश के उत्तर में ऐफेसस तक के प्रदेशों पर सिल्यकस नामक सेनापति ने अधिकार जमाया। मिस्र देश को टौलेमी ने ले लिया और मैसेडोनिया पर ऐंटिगोनस का आधिपत्य स्थापित हो गया।

यद्यपि सिकन्दर की विजयी यात्राओं ने उसे इतिहास में 'हीरो' बना दिया है और वह 'महान्' कहकर स्मरण किया जाता है, पर ध्यानपूर्वक देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी विजयों का अधिकांश श्रेय उसके पिता, फ़िलिप द्वारा किये गये सैनिक संगठन को था। निस्सन्देह सिकन्दर एक महान् सेना-नायक था, पर ऐसा लगता है कि संगठन-शक्ति का उसमें अभाव था, नहीं तो क्या कारण था कि इतना बड़ा विजेता और सैनिक अपने पीछे कुछ भी ठोस वस्तु नहीं छोड़ जाता? कुछ अच्छी भली सड़कें तक नहीं?

उसे विश्वविजयी भी व्यर्थ कहा जाता है, क्योंकि भारत का अत्यल्प भाग भी वह नहीं जीत सका था, छापा भर मारकर लौट गया था। इसके अतिरिक्त चीन सारा का सारा अविजित था, जो उस समय एक महान् शक्तिशाली राज्य था, सिकन्दर का चरित्र भी अत्यन्त कुटिल और क्रूर था। मानवीय भावों का उसमें सर्वथा अभाव था।

मौर्यसाम्राज्य और अशोक

बुद्ध के काल में हिमालय की तराई में 'मोरिया' नाम की एक जाति रहती थी, जिसका एक छोटा-सा अपना संघ-राज्य भी था। उसी 'मोरिया' का संस्कृत रूप है मौर्य, जिसके बारे में अनेक कल्पनायें की गई हैं। उक्त मोरिया-संघ का एक युवक, जिसे मौर्यसाम्राज्य के स्थापन का श्रेय प्राप्त है, चन्द्रगुप्त था। किसी घटना से प्रभावित होकर उसने प्रजा-पीड़क नन्दवंश का, जो सिकन्दर और पोरस की लड़ाई के समय

पाटलिपुत्र के ज़बर्दस्त साम्राज्य पर अधिकारारूढ़ था, अन्त करने का निश्चय कर लिया। उधर नन्द राजा उसकी जान का दुश्मन बन बैठा। इसी प्रकार एक विशाल साम्राज्य के अधीश्वर का विद्रोही चन्द्रगुप्त राजनीतिक भगोड़ा (Political absconder) का जीवन व्यतीत करता हुआ अपनी धुन में मस्त था। कहते हैं कि वह सिकन्दर से भी मिला था; पर दोनों की पट नहीं सकी थी। उसका एक ब्राह्मण मित्र था—चाणक्य, जिसे विष्णुगुप्त अथवा कौटिल्य भी कहा जाता है। दोनों ही असाधारण दृढ़प्रतिज्ञ और दुर्दमनीय व्यक्ति थे। परिस्थितियों या भाग्य के आगे भी उन्होंने झुकना नहीं सीखा था। जान पड़ता है सिकन्दर की प्रसिद्धि और विजयगाथाओं से भी उन्हें यथेष्ट प्रोत्साहन मिला।

सिकन्दर की मृत्यु को अभी साल भर भी नहीं पूरा हो पाया था कि चन्द्रगुप्त ने सिन्ध और पंजाब के राज्यों को विद्रोह के लिए उभाड़ दिया। सिकन्दर अपने पीछे जो सेना छोड़ गया था, उसे चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में उक्त राज्यों की संयुक्त वाहिनी ने मार भगाया। उन्हीं राज्यों की एक विशाल सेना तैयार करके उसने पाटलिपुत्र के नन्द-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया और मगध का शासक भी बन बैठा। चाणक्य उसका प्रधान मंत्री बना। यह घटना ई० पू० ३२१ की है, सिकन्दर की मृत्यु के ठीक पाँच वर्ष बाद। उसका साम्राज्य समूचे उत्तर-भारत में स्थापित हो गया। आन्तरिक विरोधों को अभी चन्द्रगुप्त मुश्किल से दबा सका था कि उसे एक प्रबल बाह्य आक्रमण का भी सामना करना पड़ा। हम पहले ही बतला चुके हैं कि सिकन्दर का विशाल साम्राज्य जब खंडित हो रहा था, तब पश्चिमी और मध्य-एशिया पर सिल्यूकस नामक सेनापति ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। वही सिल्यूकस जब अपने केन्द्र में पूरी तरह जम गया तब उसे सिकन्दर के भारतीय प्रान्तों को एक बार फिर पराभूतकर अपने शासन में मिलाने की सूझी और उसने भारत पर आक्रमण किया। शक्तिशाली चन्द्रगुप्त से उसकी मुठभेड़ हुई और सिल्यूकस पराजित हुआ। न केवल इतना ही बल्कि उसे क्षति-पूर्ति-स्वरूप आधुनिक अफ़ग़ानिस्तान का बहुत बड़ा भाग

चन्द्रगुप्त को देना पड़ा। सिल्यूकस ने अपनी लड़की भी चन्द्रगुप्त को ब्याह दी और अपने राजदूत मेगेस्थने को मौर्य-दरबार में भेजा।

चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र विन्दुसार अमित्रघात राजा हुआ। विन्दुसार के राज्यारोहण की तिथि के बारे में विद्वानों में क़ाफी मतभेद है। ई० पू० २९८,२९६ और ३०२ तीनों ही सन् विभिन्न लोगों ने बतलाये हैं। अस्तु, विन्दुसार के राज्य-काल में कोई विशेष वर्णनीय घटना नहीं हुई, सिवा इसके कि उसने अपने पिता द्वारा स्थापित साम्राज्य की रक्षा की। बौद्ध-साहित्य के पंडितों का कहना है कि चाणक्य उसके समय में भी प्रधान मंत्री था और दक्षिणी राष्ट्रों की १६ राजधानियाँ उसने विन्दुसार के लिए विजय की। विन्दुसार का राज्यकाल लगभग २५ वर्ष तक समझा जाता है।

विन्दुसार के बाद उसका सुयोग्य और प्रतिभासम्पन्न पुत्र अशोक राजगद्दी पर बैठा। राजा होने के पहले भी वह उज्जैन और तक्ष-शिला का शासन अपने पिता के अधीन रहकर कर चुका था। ई० पू० २६४ के लगभग वह जब राज्यारूढ़ हुआ तब कम्बोज से कर्नाटक तक सारा भारतवर्ष मौर्य-साम्राज्य के भीतर आ चुका था। उसने अपने पूर्वजों के पद-चिह्नों पर चलकर साम्राज्य-विस्तार करना निश्चय करके जब आँखें उठाईं तब उसे बंगाल, मगध और आन्ध्र के बीच तीन तरफ़ से घिरा हुआ कलिङ्ग का शक्तिशाली और स्वतंत्र राष्ट्र दृष्टिगोचर हुआ। कलिङ्ग की सेना ख़ूब सुसंगठित थी। अपने राज्य-काल के लगभग दस साल बिताकर उसने कलिङ्ग पर आक्रमण किया। कलिङ्ग के निवासी बड़ी वीरतापूर्वक लड़े; पर अन्त में भयानक रक्तपात और ख़ून-खच्चर के बाद वे ई० पू० २५५ में पराजित होगये। विजयी होकर भी अशोक के हृदय पर इस युद्ध की नृशंसता एवं यंत्रणाओं का इतना गम्भीर प्रभाव पड़ा कि उसने सदा के लिए युद्धों से विरत हो जाने का निश्चय कर लिया। उसने स्वयं भगवान् बुद्ध के उपदेशों को ग्रहण कर लिया और घोषित कर दिया कि 'जहाँ लोगों का इस प्रकार वध, मरण और देशनिकाला हो, वहाँ जीतना न जीतने के बराबर है।' उसने अपने सीमान्त प्रदेशों के अधिकारियों को अन्य राष्ट्रों के साथ मित्रता का व्यवहार रखने का आदेश दिया।

युद्धों और विजय-यात्राओं से विमुख होकर पहले तो उसने राज्य में परम्परा के आधार पर प्रचलित बहुत-सी कुरीतियों का अन्त किया। जानवरों को लड़ाकर तमाशा देखने का रिवाज़ उसने तुरन्त बन्द कर दिया। खिलवाड़ और शिकार के आनन्द के लिए पशु-पक्षियों की हत्या की भी उसने मनाही कर दी। पहले राजा लोग न केवल विजय-यात्रायें बल्कि विहार अथवा विनोदार्थ यात्रायें भी किया करते थे; अशोक ने उनके स्थान पर धर्म-यात्रा करना शुरू कर दी। उसने दिग्विजय के स्थान पर धर्म-विजय की नीति अपनाई। यह एक बिलकुल नई बात थी, जिसका इतिहास में अशोक के पहले कहीं चिह्न भी नहीं मिल सकेगा। उसने अन्य राज्यों में भी जाकर धर्मविजय के सिलसिले चिकित्सालय, धर्म-शालायें आदि बनवाईं। उसने सारे संसार में धर्मप्रचारार्थ भिक्षुओं को भेजा। अशोक के धर्म-विजय-सम्बन्धी ये कार्य संसार के सुदूर कोनों तक में फैले हुए थे। अशोक के शिलालेखों से इसका प्रमाण मिलता है कि समूचे मध्य-एशिया, पश्चिमी एशिया, मिस्र, उत्तरी अफ़्रीका तथा यूनान आदि में उसके धर्मप्रचारक फैले हुए थे।

अशोक ने भिक्षु-संघों को बहुत-सा धन दान किया और महात्मा बुद्ध के पवित्र और सरल उपदेशों एवं बुद्ध-धर्म के शास्त्रों का गम्भीर विवेचन करने के लिए विद्वानों को प्रोत्साहित किया। अशोक के विचार निश्चय ही अपने काल से बहुत आगे थे, और यही कारण है कि उनका मिशन उनकी मृत्यु के बाद योग्य उत्तराधिकारी और उन्नत संस्थाओं के अभाव में बन्द-सा हो गया। और उसके प्रतिक्रियास्वरूप भारत में प्राचीन देवी-देवताओं के मत-मतान्तरों तथा अधिकाधिक पेचीदगी से भरी वर्ण-व्यवस्था को लिये हुए पुराने ब्राह्मणधर्म ने अपना सिक्का फिर थोड़े ही दिनों में क़ायम कर लिया, यद्यपि विदेशों में—चीन, जापान, स्याम, ब्रह्मा आदि देशों में—अशोक का लगाया हुआ बुद्ध-धर्म का पौधा फल-फूल कर विराट् वृक्ष बन गया और अब तक उक्त देशों के अधिकांश निवासी बौद्ध ही हैं।

मौर्यों की शासन-व्यवस्था

यद्यपि उस सुदूर अतीत की बहुत ही कम सामग्रियाँ आज उपलब्ध

हैं, जिनसे तत्कालीन सभ्यता और शासन-व्यवस्था का विस्तृत परिचय मिल सके, फिर भी मैगेस्थने (चन्द्रगुप्त के दरबार में सिल्यूकस का राजदूत) के लिखे वर्णनों, चन्द्रगुप्त के प्रधान मंत्री कौटिल्य के लिखे अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ तथा अशोक के खुदवाये शिलालेखों से उक्त बातों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है; और जितना कुछ उपर्युक्त साधनों से जाना जा सका है उससे निस्सन्देह कहा जा सकता है कि मौर्यों का शासन-प्रबन्ध अत्यन्त व्यवस्थित एवं नियमित था। समूचा साम्राज्य पाँच मंडलों अथवा प्रान्तों में विभाजित था। १—मध्य मंडल, यानी आज का सारा हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेश, २—प्राची, अर्थात् पूर्वी देश—कलिङ्ग, बंगाल आदि, ३—दक्षिणापथ अर्थात् नर्मदा नदी के दक्षिण का प्रदेश, ४—पश्चिम-मंडल, यानी मारवाड़, सिन्ध, गुजरात आदि और ५—उत्तरापथ, यानी पंजाब, काश्मीर, काबुल आदि।

प्रधान राजधानी पाटलिपुत्र या पटना से सीधे 'राजा' (मौर्य-सम्राट् अपने को राजा ही कहते थे) की देखरेख में मध्यमण्डल का शासन होता था, एवं राजकुमारों अथवा उप-मंत्रियों के निरीक्षण में तक्षशिला से उत्तरापथ का, उज्जैन से पश्चिमी-मण्डल का, सुवर्णगिरि से दक्षिण-पथ का तथा तोसली (आधुनिक पुरी ज़िले का धौली क़स्बा) से प्राची-मण्डल का शासन होता था। इन प्रत्येक मण्डलों के मातहत कई जनपद थे, जिनकी भी अपनी अपनी राजधानियाँ थीं, जिनमें राज्य-द्वारा नियुक्त मंत्री प्रजा की सहायता से शासन करते थे। ये जनपद आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वतंत्र (autonomous) थे, यद्यपि राजा को अवाञ्छित नियमों और क़ानूनों को रद्द कर सकने का विशेषाधिकार प्राप्त था। इन जनपदों का भी विभाजन ज़िलों जैसे छोटे टुकड़ों में हुआ था। गाँवों के शासक 'गोप' कहलाते थे।

क़स्बों और नगरों में आज की तरह दो प्रकार के सरकारी न्यायालय थे, एक फ़ौजदारी और दूसरा दीवानी। न्याय और शासन के अतिरिक्त सिंचाई, जंगल, खानों, आबकारी आदि के भी लोकोपकारी विभाग सरकार ने स्थापित किये थे। मनुष्य-गणना होती थी, वर्षा का माप सरकारी तौर पर रक्खा जाता था। सड़कों का जाल बिछ गया था।

फ़ौजदारी मुक़दमों में शवों की परीक्षा की भी उन्नत प्रणाली विद्यमान थी। मौर्य सम्राटों का सेना-विभाग एवं गुप्तचरों का महकमा भी अत्यन्त पूर्ण, दृढ़ और सुसंगठित था। नगरों के प्रबन्ध के लिए आज की तरह म्युनिसिपैल्टियाँ भी थीं। जिनके सदस्य प्रजा-द्वारा निर्वाचित होते थे मौर्यों का दण्ड-विधान बड़ा कठोर था। लोकोपयोगी संस्थाओं को हानि पहुँचानेवालों को कड़ी सज़ायें दी जाती थीं। ग़ुलामों के क्रय-विक्रय की प्रथा यूनान आदि की तरह यहाँ नहीं थी। ये सारी बातें न केवल उस युग के लिए एक दम नवीन थीं, बल्कि आज की दृष्टि से भी अत्यन्त उन्नत थीं।

कनफ़्युशियस और ला-ओ-त्सि

हम प्राचीन चीन के प्रकरण में वर्णन कर चुके हैं कि ई० पू० छठ शताब्दी में चीन सहस्रों छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। चीन के इतिहास में इस युग को "अव्यवस्थित युग" नाम दिया गया है। किन्तु अनेक छोटे टुकड़ों में बँटे यूनान में जिस तरह महान् तत्त्ववेत्ताओं ने जन्म लिया ग़ुलाम और पराजित यहूदियों में जिस प्रकार पैग़म्बरों का क्रम चल किया, उसी तरह अव्यवस्थित चीन में भी कुछ महान् एवं अमर दार्शनिकों ने जन्म-ग्रहण किया था। इन दार्शनिकों और लोक-शिक्षकों में कनफ़्यु शियस और ला-ओ-त्सि के नाम मुख्य हैं।

कनफ़्युशियस का जन्म चीन के एक बड़े घराने में हुआ था। वह 'ल्यु' नामक राज्य के एक महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन था, किन्तु उसका मन अपने पद और कुलीनता की मर्यादा से सन्तुष्ट नहीं था; उसे हर घड़ी चीन में फैली हुई तत्कालीन भयंकर कुव्यवस्था और अराजकता व्यथित करती रहती थी। उसने अपने राज्य में एक विद्यालय खोला, जिसमें ज्ञान पिपासुओं को एकत्रकर वह शिक्षा देने लगा। अनेक चिन्तन और मनन के पश्चात् जैसे हमारे गौतम को 'बोध' प्राप्त हुआ था, उसी तरह कनफ़्युशियस को भी एक उच्च जीवन का आदर्श और सुशासन का आधार प्राप्त हुआ। फिर तो वह निस्सङ्कोच भाव से एक ऐसे राजा की खोज में निकल पड़ा, जो उसके नये विचारों को कार्यान्वित करने का उसे अवसर

दे सके। पहले तो उसे कोई ऐसा राजा ही नहीं मिला, और बाद में एक मिला भी तो दरबारी षड्यंत्रों के मारे कनफ़्युशियस का उस राजा के साथ सफल एवं स्थायी सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सका। अतएव स्वभावतः ही उसकी योजनायें असफल रहीं। अन्त में वह बड़ी निराशा के साथ मरा, यद्यपि उसकी जानकारी से परे उसके उपदेशों का देश-व्यापी प्रभाव समूचे चीन में दृष्टिगोचर होने लगा था। यहाँ तक कि आज चीन में कनफ़्युशियस के उपदेशों को 'उपदेशत्रय' में गिना जाता है। इस 'त्रय' में और दो हैं, बुद्ध और ला-ओ-त्सि के उपदेश।

कनफ़्युशियस की शिक्षा का मूल-भूत आधार भी लगभग वही था जो तत्कालीन अन्य उपदेशकों की शिक्षा का था। जिस प्रकार गौतम, यूनानी तत्त्ववेत्ताओं और यहूदी पैग़म्बरों ने धार्मिकता, शान्ति और व्यक्तिगत आचरण पर ज़ोर दिया, उसी प्रकार कनफ़्युशियस ने भी किया। अन्तर केवल इतना था कि वह जनता की भलाई बुराई के अर्थ में सोचता था, वह व्यक्तिवादी नहीं था। उसकी शिक्षाओं का सारांश यही है कि मनुष्य और मनुष्यों के विधाता (प्राचीन अर्थ में) राजा लोग ऐसा आचरण करें, इस ढंग से जीवन बितायें और कर्त्तव्य-पालन करें कि संसार एक अव्यवस्थित, अरक्षित एवं दुःखपूर्ण स्थान के बदले श्रेष्ठ तथा सुखमय जगह बन जाय। व्यक्ति की प्रत्येक गति-विधि को नियंत्रित और नियमित करने का उसने यहाँ तक प्रयत्न किया कि प्रत्येक आचरण के लिए एक एक आदर्श की स्थापना कर डाली। फल यह हुआ कि उसके जीवन-काल में ही लोकहित का ध्यान रखकर चलनेवाले आत्म-संयमी व्यक्ति आदर्श की तरह पूज्य हो उठे।

दूसरा महान् शिक्षक था 'ला-ओ-त्सि'। उसकी शिक्षा अत्यन्त रहस्यमयी है, जिसे सुनकर और पढ़कर बुद्धि हैरान रह जाती है। उसके लेख इतने दुरूह और सूक्ष्म हैं कि उनका अर्थ तक समझ सकना साधारणतया दुष्कर प्रतीत होता है। फिर भी पंडितों ने जो कुछ अर्थ निकाला है उससे प्रतीत होता है कि उसने सांसारिक सुखों और जीवन के ऐतिहासिक उपादानों के प्रति विमुख रहने का उपदेश दिया है और प्राचीन सारल्य (Primitive Simplicity) के साथ जीवन बिताने

की शिक्षा दी है। उसके लेख पहेलियों और कथाओं के रूप में हैं, और ऐसा समझा जाता है कि परवर्ती लोगों ने उनमें अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ और मिलाकर 'ला-ओ-त्सि' के उपदेशों को पेचीदा बना दिया, जिसके कारण वे उपदेश अनोखे आचारों-विचारों के संग्रह होकर रह गये हैं।

ला-ओ-त्सि बहुत दिनों तक 'चाऊ' राजवंश के पुस्तकालय का अध्यक्ष था। ई० पू० छठी शताब्दी में उक्त राजवंश इतना निर्बल और षड्यंत्रों का केन्द्र हो उठा कि ला-ओ-त्सि को बड़ी निराशा हुई और उसने अत्यन्त दुःखी होकर दरबार का त्याग कर दिया। कहते हैं उसके बाद उसने सार्वजनिक उपदेशक का काम छोड़कर एकान्तवास ले लिया।

उक्त दोनों उपदेशकों की छाप आज भी चीनी जीवन पर प्रत्यक्ष ही देखी जा सकती है। चीन का समूचा उत्तरी भाग, जिस क्षेत्र में आज 'ह्वाङ्ग-हो' नदी भी प्रचण्ड धारा दहाड़ती है, कनफ्युशियस का अनुयायी हो गया। और दक्षिणी भाग, जहाँ 'याङ्ग-त्सि-क्याङ्ग' की धारा बहती है, 'ता-ओ' धर्म का अनुयायी अर्थात् ला-ओ-त्सि की शिक्षा माननेवाला बन गया। कालान्तर में अपनी परिस्थितियों और अवस्थाओं के अनुसार ढलकर उत्तर और दक्षिण का विभेद न केवल कनफ्युशियस के मत और 'ता-ओ' धर्म का विभेद रह गया, बल्कि जीवन की हर गति-विधि में एक अन्तर आ गया, और आज भी वह विभेद, वह अन्तर मौजूद है।

सातवाँ प्रकरण

रोम और कार्थेज

हम पहले यूनानवालों के नागरिक राज्यों का वर्णन कर चुके हैं। यूनानी जहाँ भी गये अपने राज्य का वही आदर्श ले गये। अब हम रोम के गौरवपूर्ण अतीत का वर्णन करेंगे। ईसवी पूर्व ७५३ रोम-राज्य के स्थापन का समय बतलाया जाता है। लेकिन ईसवी पूर्व ५५३ के पहले की भी बहुत-सी एट्रस्कन समाधियाँ रोम के फोरम में खुदाई करते समय मिली हैं। ईसा से पहले छठी शताब्दी वास्तव में बहुत महत्त्वपूर्ण शताब्दी थी। उसी शताब्दी में एट्रस्कन राजा भी राज्यच्युत और निर्वासित हुए थे। और तब से रोम नगर प्रजा पर आधिपत्य रखनेवाले धनी कुटुम्बों का प्रजातंत्र बन गया। सच तो यह है कि यूनानी ढंग के प्रजातंत्र में, जिनका वर्णन पाठक पढ़ चुके हैं, और रोम के प्रारम्भिक जीवन के प्रजातंत्र में इसके अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं था कि रोम लैटिन भाषाभाषी था। पर थोड़े ही समय बाद रोम-राज्य की सीमा धीरे-धीरे बढ़कर सारे इटैली में फैल गई। हम यूनान के नगर-राज्यों के वर्णन में बतला चुके हैं कि उनका एक दूसरे से पूर्णतः असम्बन्धित रह सकना बहुत कुछ उनकी प्राकृतिक स्थिति के कारण ही सम्भव हो सका था। वे बातें रोम के साथ नहीं लागू थीं। अतः जितना ही बड़ा और विशाल राज्य वह बनता गया उतना ही नागरिक राज्य का ढाँचा उसका टूटता गया। यद्यपि यह बात सही है कि आधुनिक ढंग का प्रजातंत्र वह नहीं था, फिर भी उसका शासन एक सिनेट के द्वारा होता था जिसकी नामज़दगी दो चुने हुए राज्याधिकारी करते थे। बहुत दिनों तक यह परिपाटी चलती रही कि केवल सम्भ्रान्त परिवार के लोग ही सिनेट के सदस्य हो सकते थे; जिसके फलस्वरूप रोम की जनता में दो प्रकार की श्रेणियाँ धीरे-धीरे पैदा होने लगीं। एक तो साधारण नागरिक और

दूसरे सम्भ्रात सम्पन्न ज़मींदार क़िस्म के लोग। कई शताब्दियों तक इन दो श्रेणियों में संघर्ष चलता रहा। प्लेबियन कहलानेवाले साधारण नागरिकों ने एक प्रकार के असहयोग की प्रणाली अपनाई और अपना बहुत बड़ा समूह बनाकर रोम नगर के बाहर जाकर अपनी नई बस्ती आबाद की। इस घटना से पैट्रिशियन कहलानेवाले सम्भ्रान्त वर्गवाले भयभीत हो उठे और उन्होंने सर्वसाधारण से सुलह करके उन्हें बहुत-सी सुविधायें प्रदान कीं। अन्त में सभी नागरिकों के लिए सिनेट का मेम्बर हो सकना सुलभ हो गया।

इन दो श्रेणियों के अतिरिक्त यूनान की तरह रोम में भी ग़ुलामों का एक विशाल जन-समूह वर्तमान था जिनको किसी भी तरह के अधिकार नहीं प्राप्त थे। वे भेड़-बकरियों की तरह ही अपने स्वामियों की सम्पत्ति हुआ करते थे। उन्हें पशुओं की तरह सज़ायें दी जा सकती थीं और वे बेचे भी जा सकते थे; लेकिन ऐसे भी अवसर आते थे जब वे कुछ शर्तों पर मुक्त भी कर दिये जाते थे। इस प्रकार मुक्त होने पर जब वे स्वतंत्र नागरिकों की तरह आबाद होते थे तो उनका पृथक् अस्तित्व स्वभावतः एक तीसरी श्रेणी का रूप ग्रहण कर लेता था।

प्रारम्भ में जब कि रोम केवल एक नगर-राज्य था, तब सभी नागरिक रोम में या उसके निकटवर्ती स्थानों में ही रहते थे; अतएव उनके लिए एकत्रित होना और राज्याधिकारी के निर्वाचन में भाग लेना बहुत आसान था। लेकिन जब रोम की उन्नति हुई और उसका राज्य विस्तृत होकर दूर-दूर तक फैल गया तब स्वभावतः ही अनेकों नागरिकों के स्थानों और रोम के बीच एक लम्बा व्यवधान आ उपस्थित हुआ; जिससे उपर्युक्त सुविधायें उन्हें नहीं रह गईं। फल यह हुआ कि केवल रोमवालों के वोटों से ही सारे राज्य के नागरिकों का भाग्य निर्णीत होने लगा। वास्तव में दूरस्थ नागरिकों को यह पता भी नहीं रहता था कि रोम में क्या हो रहा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही है कि सभी नागरिकों के वोट देने के अधिकार का कोई अर्थ नहीं था।

फिर भी रोम नगर और निकटस्थ स्थानों के नागरिकों के वोट देने की प्रणाली बहुत अंशों में जनतंत्रात्मक तो थी ही। सभी मतदाता खुले

मैदानों में इकट्ठे होकर निर्वाचनों और महत्त्वपूर्ण निर्णयों में भाग लेते थे। इनमें बहुतेरे ग़रीब प्लेबियन्स भी होते थे। लेकिन आज की तरह ही उक्त निर्धन मतदाताओं के वोट ख़रीदे भी जा सकते थे। अकसर धनी पेट्रेशियन्स, जो उच्च पदों के इच्छुक होते थे, ग़रीबों को वोट के लिए ख़ूब रिश्वतें दिया करते थे।

जिस प्रकार इधर इटैली में रोम शक्ति और विस्तार में उन्नति कर रहा था, उसी प्रकार दूसरी ओर उत्तरी अफ़रीका में कार्थेज नामक राज्य भी ख़ूब उन्नति कर रहा था। कार्थेजनिवासी प्राचीन फ़ोनेशियन लोगों के वंशज थे। अतएव स्वभावतः वे वाणिज्य-व्यवसाय और समुद्र-यात्रा में बड़े पटु थे। उनका भी एक अपना जनतंत्र राज्य था; यद्यपि वह जनतंत्र रोम के राज्य से कहीं अधिक कुलीनों और सम्पन्नों का अधिनायकतंत्र था। वह भी एक नगर-राज्य था जिसमें ग़ुलामों की बहुत बड़ी संख्या थी। शुरू में रोम और कार्थेज के बीच दक्षिणी इटैली और मैसिना में यूनानी उपनिवेश स्थित थे; जहाँ से यूनानियों को रोम और कार्थेजवालों ने मिलकर निकाल दिया था। फलस्वरूप कार्थेज ने सिसली ले लिया और रोम का राज्य भी इटैली के सुदूर दक्षिण सीमान्त तक पहुँच गया। रोम और कार्थेज की यह मैत्री बहुत दिनों तक न चल सकी और शीघ्र ही उनकी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और आपसी संघर्ष प्रारम्भ हो गये। दोनों ही राज्य उच्च महत्त्वाकांक्षी और उन्नतिशील थे। अतएव स्वभावतः ही साम्राज्य-विस्तार के उन प्रारम्भिक दिनों में भूमध्य-सागर दो प्रगतिशील साम्राज्यों के लिए बहुत ही संकुचित क्षेत्र था। कार्थेजवालों को वंश-परम्परा से समुद्र के ऊपर अपने एकच्छत्र अधिकार का बहुत गौरव और गर्व था और वे रोमवालों को इस अर्थ में अत्यन्त नीची निगाह से देखते थे। लगभग १०० वर्ष तक उक्त दोनों राज्य लगातार आपस में लड़ते रहे, यद्यपि बीच-बीच में उनकी क्षणिक सन्धियाँ भी हो जाया करती थीं। इन निरन्तर युद्धों से बहुत बड़ी जन-संख्या तबाह हो रही थी। वैसे तो रोम और कार्थेज में बराबर लड़ाइयाँ हुईं लेकिन तीन इतिहास-प्रसिद्ध लड़ाइयाँ प्यूनिक-युद्ध के नामसे प्रख्यात हैं। पहला प्यूनिक-युद्ध २३ वर्षों तक लगातार चलता रहा; ईसवी पूर्व २६४

से २२४ तक, जिसमें रोम विजयी हुआ। बाइस वर्षों बाद दूसरा प्यूनिक-युद्ध शुरू हुआ, जिसमें कार्थेजवालों ने हैन्नीबाल नामक इतिहास-प्रसिद्ध सेनापति को रोम के विरुद्ध लड़ने को भेजा। हैन्नीबाल अपनी सेना के साथ लगातार १५ वर्षों तक रोम को पददलित और रोमन जनता को संत्रस्त करता रहा। अन्त में ईसवी पूर्व २१६ में उसने रोमवालों को भयंकर खून-खराबी और मारकाट के बाद पूर्णतः पराभूत कर दिया। यद्यपि इस लड़ाई में रोमवालों की पराजय हुई लेकिन फिर भी उन्होंने हिम्मत न हारी और लड़ते ही गये। हैन्नीबाल ने इटैली का एक बहुत बड़ा भाग उजाड़ बना दिया। लेकिन अन्त में रोमवालों का धैर्य और उनकी दृढ़निश्चयता ने चमत्कार कर दिखाया। हैन्नीबाल को ज़ामा के युद्ध-क्षेत्र में ईसवी पूर्व २०२ में पूरी तरह और गहरी हार खानी पड़ी। वह युद्ध के मैदान से भाग चला और बहुत दिनों तक इधर-उधर मारे फिरने के बाद विष-पान करके मर गया।

इसके बाद लगभग आधी शताब्दी तक रोम और कार्थेज में सन्धि रही, क्योंकि कार्थेज पूर्णतया परास्त हो चुका था और वह रोम के सामने सर उठाने लायक़ नहीं रह गया था। किन्तु इसके बावजूद भी रोम को सन्तोष नहीं हुआ और कार्थेजवालों पर वह अकारण आक्रमण कर बैठा, जिसके फलस्वरूप तीसरा प्यूनिक-युद्ध प्रारम्भ हुआ। इस युद्ध में कार्थेज का सर्वथा विनाश हो गया और उसकी हस्ती सदा के लिए मिट गई। और वास्तव में एक दिन जहाँ भूमध्य सागर का स्वामी होने का दावा लेकर कार्थेज का गौरवमय राज्य खड़ा था वहाँ तीसरे प्यूनिक-युद्ध की भयंकर मार-काट के बाद उजाड़ खँडहरों का एक सिलसिला-मात्र अवशेष रह गया।

रोम का साम्राज्य

नवीन रोम-साम्राज्य जो ईसवी पूर्व पहली और दूसरी शताब्दी में समूचे पाश्चात्य पर अधिकार करने के लिए बढ़ा, वह तत्कालीन सभी महान् साम्राज्यों से अनेक अंशों में भिन्न था। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि प्रजातंत्र राष्ट्रों में वह पहला था जिसके पास साम्राज्य था,

क्योंकि पैरीक्लीज़ के समय में एथेन्स का भी निकटस्थ राज्यों पर आधिपत्य था और कार्थेज का भी अपने विनाश के पूर्व, भूमध्य सागर के अनेकों द्वीपों पर शासन था। रोम-साम्राज्य का विस्तार मोरक्को तथा स्पेन तक और पश्चिमोत्तर में आधुनिक फ़्रांस और बेल्जियम से ब्रिटेन तक तथा पूर्वोत्तर कोण में हंगरी और रूस तक हो गया था। किन्तु दूसरी ओर पूर्ववर्ती साम्राज्यों की भाँति मध्य-एशिया और फ़ारस में उसकी सत्ता स्थिर न रह सकी, क्योंकि उसका शासन-केन्द्र उक्त देशों से काफ़ी दूरी पर था।

कुछ शताब्दियों तक रोमन-साम्राज्य निरन्तर उन्नति करता रहा। ईसा के द्वितीय या तृतीय शताब्दी पूर्व, समीपवर्ती यूनानी लोगों ने उन पर गहरा सांस्कृतिक प्रभाव डाला। रोम-साम्राज्य विशेषरूप से आर्य-संस्कृति के आधार पर शासन करने का ही एक प्रयत्न था। रोमन लोगों के भी देवता और मन्दिर थे, जिन्हें यूनानियों की तरह ही वे लोग अमर तथा दिव्य समझा करते थे। उनके यहाँ रक्त-मेध और कभी-कभी नरमेध भी होते थे। किन्तु इन सबके बावजूद भी जब तक रोम उन्नति के शिखर पर नहीं पहुँचा तब तक उसके इतिहास में मन्दिरों का महत्त्व नगण्य ही-सा बना रहा।

हम रोमन-जाति के साम्राज्य में होनेवाले राजनैतिक परिवर्तनों के साथ-साथ सामाजिक तथा और भी अनेक परिवर्तन होते हुए पाते हैं। अधिकांश व्यक्तियों की धारणा है कि रोम-राज्य एक सुव्यवस्थित और सुप्रतिष्ठित संस्कृति का जन्म-दाता था। यद्यपि यह सही है कि रोमन जाति एक महान् प्रयोग में प्रवृत्त हो गई थी पर उसे उसमें सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। शासन-सम्बन्धी उक्त प्रयोग एक प्रकार से अभी तक अधूरा ही पड़ा हुआ है। आज का सभ्य संसार भी रोमन-जाति द्वारा उठाये गये उन राजनैतिक प्रश्नों को हल नहीं कर सका है।

रोम-साम्राज्य की उन्नति को हम चार भागों में बाँट सकते हैं। पहला भाग ईसवी पूर्व ३९० से २४० ई० तक कहा जा सकता है। इस काल को इतिहासज्ञों ने एकीकरण प्रजातंत्र युग (Assimilative Republic Age) कहा है। उस समय रोम स्वतंत्र कृषकों का

जनतंत्र था, जिसका क्षेत्रफल कुल २० वर्गमील मात्र था। द्वितीय प्यूनिक-युद्ध के बाद स्वतंत्र किसानों को समय पड़ने पर बुलाकर उन्हीं से सेना भी तैयार कर ली जाने लगी। रोम-साम्राज्य के लिए वैतनिक सेना की नियुक्ति करके उसे कड़ी क़वायद के द्वारा शिक्षा देना और सैनिक-व्यवस्था बनाना ईसवी पूर्व १०६ से कुछ ही पहले सम्भव हो सका।

इस समय को रोम-राज्य के शक्ति-विकास का तीसरा युग समझना चाहिए। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि तब से रोम स्वतंत्र कृषकों के लघु-जनतंत्र से आगे बढ़कर सेनापतियों का राज्य अथवा सरदारतंत्र बना। कुलीन वंश के सैनिक अपने राजनैतिक विपक्षियों का विनाश करने में लगे रहते थे और सेना पर आधिपत्य जमाने के लिए बराबर षड्यंत्र होते रहते थे। इसके बाद स्पार्टकस के विप्लव के बाद ही वह युग आया जिसमें ल्यूकुलस और महान् पाम्पियाई, क्रैसस और जूलियस-सीज़र आदि दुर्द्धर्ष सैनिक सेनाओं के अग्रणी बने और राज्य-कार्य की बागडोर अपने हाथों में ली। क्रैसस ने स्पार्टकस को विजय किया और ल्यूकुलस ने एशिया माइनर को जीतकर आरमेनिया में प्रवेश किया। क्रैसस और भी आगे बढ़ा और फ़ारस पर हमला कर बैठा, जहाँ उसे पार्थियनों के हाथ गहरी हार खानी पड़ी। इधर पाम्पियाई और जूलियस सीज़र में होड़ बहुत दिनों से चल रही थी, जिसमें पाम्पियाई हार गया और मिस्र देश में मार डाला गया। और इस प्रकार जूलियस सीज़र, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे, रोम जगत् का सर्वमान्य अधिपति बन गया।

बहुत प्राचीनकाल से रोम में संकट के समय डिक्टेटर चुनने की प्रथा चली आ रही थी। पाम्पियाई को हरा देने के बाद सीज़र ने अपने को १० साल के लिए डिक्टेटर चुनवा लिया, फिर ईसवी पूर्व ४५ में वह आजीवन डिक्टेटर चुन लिया गया। अन्त में जब पाम्पियाई की मूर्ति के नीचे सीज़र की हत्या कर डाली गई तब वास्तव में रोम का अप्राप्त-आदर्श प्रजातंत्रवाद मरणासन्न अवस्था में था।

इसके बाद ही रोम-साम्राज्य के विकास-क्रम का अन्तिम स्टेज या

चौथा भाग प्रारम्भ होता है। सीज़र के बाद लैपिडस, मार्क ऐन्टनी और आक्टेबियन सीज़र नामक तीन सेनापतियों का त्रिगुट शासक बना। इसमें आक्टेबियन सीज़र महान् सीज़र का भतीजा था और ईसवी पूर्व ३१ में मार्कऐन्टनी को पराजितकर वह रोमन-साम्राज्य का एकच्छत्र शासक बन बैठा। उसने अपने चाचा के ढंग पर मंत्रि-मंडल तथा नागरिकों का दमन करने के बजाय, प्रत्येक को पूर्ण नागरिक स्वतंत्रता प्रदान की जिसके बदले में कृतज्ञता प्रकट करने के लिए प्रजा ने उसे स्वयं ही पूरी शक्ति दें दी। यहीं से रोम का प्रजातंत्र सम्राट्तंत्र बन जाता है। यह भी एक विडम्बना है कि सीज़र महान् का जिस प्रजा ने दैवी राजा होने का दावा करने के फलस्वरूप कत्ल कर डाला था उसी प्रजा ने आक्टेबियन को सचमुच सम्राट् बना दिया।

आक्टेबियन सम्राट् आँगस्टस सीज़र प्रथम के नाम से ई० पू० २७ से १४ तक राज्य करता रहा। उसके बाद भी टाईबीरियस सीज़र कैलिगुला, क्लडियस, नीरो, ट्रेजंन, हैड्रियन, एन्टोनियस और मार्क्स औरीलियस नामक कई प्रसिद्ध सम्राट् हुए, और सम्राटों का यह क्रम ईसवी पश्चात् १४० तक चलता रहा। ये सभी सम्राट् सैनिक थे जिनके अनियंत्रित शासनों के फलस्वरूप धीरे-धीरे रोम के इतिहास से सिनेट का नाम मिट गया। ब्रिटेन का अधिकांश भाग तथा ट्रान्सेल्वेनिया आदि को भी उन्होंने विजित कर लिया था। जिस प्रकार चीन के प्राचीन सम्राटों ने बर्बर जातियों का आक्रमण रोकने के लिए अवरोधक दीवारें बनवाई थीं उसी प्रकार रोमन-सम्राटों ने एक दीवार ब्रिटेन में बनवाई थी और दूसरी राइन तथा डैन्यूब के बीच में। अन्त में रोम-साम्राज्य का भी पतन प्रारम्भ हो गया।

जूलियस सीज़र

हम गत प्रकरण में जूलियस सीज़र का नाम ले चुके हैं। जूलियस सीज़र के व्यक्तित्व ने साहित्यकारों की कल्पना को असाधारण रूप से उत्तेजित किया है और उन्होंने उसका जो महान् चित्रण किया है उसका पात्र कदाचित् वह नहीं था। वह ऐतिहासिक विजेता की अपेक्षा कहानी और संकेतार्थों का विषय बन गया है। इतिहास में उसका महत्त्व

केवल यह है कि महत्त्वाकांक्षी और संघर्षरत सरदार-तंत्र तथा उसके बाद आनेवाले सम्राट्-तंत्र के बीच की वह एक महत्त्वपूर्ण कड़ी था, एक संयोग-विन्दु। जूलियस सीज़र ने आधुनिक फ्रांस और बेल्जियम की प्राचीन भूमि में, जो तब 'गाल' कहलाता था, एक प्रचण्ड सेनापति के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। उक्त क्षेत्रों के प्राचीन निवासी 'गाल' लोगों ने जब जर्मनी पर आक्रमण किया तो सीज़र ने आगे बढ़कर उनका मुक़ाबिला किया और वे परास्त हो गये। सीज़र ने एक बार डोवर के जलडमरू-मध्य को पार कर, ईसवी पूर्व ५४-५५ में, ब्रिटेन को भी पराजित किया था; यद्यपि वह विजय स्थायी न हो सकी।

हम पहले वर्णन कर आये हैं कि रोम के शासन का केन्द्र था सिनेट, जो नाम के लिए जूलियस सीज़र के काल में भी तद्रूप ही बना हुआ था। हालाँकि वास्तविकता यह थी कि सिनेट के प्रजातंत्रवादी नेता बेसहारा हो रहे थे और बड़े-बड़े महत्त्वाकांक्षी लोगों के हाथों में शक्ति केन्द्रित होती चली जा रही थी। ऐसे ही समय में सीज़र का, एक दूसरे महत्त्वा-काक्षी शासक पाम्पियाई से, जिसका वर्णन हम पहले कर आये हैं, झगड़ा हो गया। पाम्पियाई ने प्रजातंत्रवादी पक्षवालों को साथ लिया और उनकी सहायता से सीज़र पर सिनेट की आज्ञाओं का उल्लंघन करने का अभियोग लगाया और उसके लिए नये क़ानून बनवाये। अन्त में पाम्पियाई के पराभव के बाद सीज़र मिस्र गया और वहाँ टालेमी राजवंश में उत्पन्न हुई अन्तिम रानी क्लियोपैट्रा के प्रेम में फँस गया रोम लौटने पर उसे मिस्र की "दैवी रानी" का नाम दिया। वास्तव में यही उसके पतन का कारण भी हुआ। उसने क्लियोपैट्रा की मूर्ति को रोम के एक मन्दिर में अजेय ईश्वर के प्रति समर्पण करके स्थापित की, जिसके विरोध में प्रजातंत्रवादियों ने उसकी हत्या कर डाली।

रोमन-साम्राज्य में जनसाधारण का जीवन

पहले के विवरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि रोम-साम्राज्य विभिन्न--भाषा-भाषी जन-समुदायों के मिश्रण से बना हुआ साम्राज्य था; अतएव उस साम्राज्य में व्यवसाय और कार्यप्रणालियाँ भी स्वभावतः

कई प्रकार की थीं। व्यवस्थित संसार का प्रमुख धन्धा अब भी कृषि ही था। यूनानी संसार के विपरीत स्पार्टा में भले आदमी अपने हाथ से काम करना अपमानजनक समझते थे और कृषि का कार्य 'हालेट' कहलाने-वाले दासों से करवाया जाता था। लेकिन जब उसी यूनानी संसार के अधिकांश भाग में सामन्त-प्रथा का प्रचार हो गया तो साधारण जन-वर्ग सामान्य रूप से दास (Serf) ही हो गया था; और स्पोर्टकस का विद्रोह, जिसका वर्णन हम कर आये हैं, उक्त दासों का ही विद्रोह था। रोम-साम्राज्य की उन्नति के युग में खेतों के मज़दूरों को भयंकर अपमान सहने पड़े थे यहाँ तक कि उन्हें स्त्री रखने का भी अधिकार नहीं था। बहुत-से उद्यमों में एकमात्र दासों से ही काम लेने की परिपाटी चल पड़ी। नगर और देहातों में थोड़े से ऐसे स्वतंत्र निर्धन व्यक्ति भी थे जो क़ायदे से दास न थे। वे लोग या तो अपना निजी काम करते थे या दूसरों की मज़दूरी, यद्यपि यह बतलाना अत्यन्त कठिन है कि इनकी संख्या रोम-साम्राज्य में कितनी थी। जब हम इस बात को अनुभव करते हैं कि विशाल रोमन-साम्राज्य दरअसल में एक दास-राज्य था और स्वाधीनतापूर्वक जीवन-यापन करने का अवसर बहुत ही नगण्य संख्या को ही प्राप्त था, तब हमारी समझ में अनायास ही यह बात आ जाती है कि उसके विनाश और पतन का एकमात्र कारण था जनवर्ग का सतत उत्पीड़न और दमन। यद्यपि रोमन-साम्राज्य की बड़ी-बड़ी सड़कें और भव्य इमारतों के भग्ना-वशेष, उनके क़ानून और व्यवस्था की परम्परायें हमें आश्चर्यचकित कर देती हैं; फिर भी हमें यह भूलना न होगा कि उस साम्राज्य की सारी तड़क-भड़क, समूचे मानव-समाज की इच्छाओं और कामनाओं की लाश पर क़ायम थी; इसी लिए उस वातावरण में साहित्य और कला, विज्ञान और दर्शन कुछ भी नहीं पनप सके। जो उन्नत विचार एथेन्स के नगर-राज्यों ने अपनी महत्ता के सौ वर्षों में संसार को प्रदान किया, वह रोमन-साम्राज्य—विशाल रोमन-साम्राज्य—चार शताब्दियों में भी नहीं प्रदान कर सका। यहाँ तक कि रोम के अधिकार में आकर एथेन्स की भी महत्ता का लोप होगया, और सिकन्दरिया का उन्नत विज्ञान भी नष्ट हो गया।

शक, सातवाहन और कुशान

भारतवर्ष में जिस समय महान् अशोक राज्य कर रहा था उन्हीं दिनों चीन के उत्तर इरतिश और आमूर नदियों के बीच हूण नामक एक जाति निवास करती थी। तिब्बत और मंगोलिया के बीच चीन का जो भाग है वह कान्सू प्रान्त कहलाता था। इस कान्सू से लेकर यूनान की सीमा तक शक नामक आर्यों की एक ख़ानाबदोश शाखा रहती थी। कान्सू की ठीक सीमा पर यूची नामक एक और जाति रहती थी।

हूणों ने यूची लोगों पर हमले किये जिसके फलस्वरूप यूची लोग भागते-भागते पामीर बदख़्शाँ की ओर झुक पड़े। वहाँ उनकी एक शाखा ने शकों की बस्ती पर हमला किया, नतीजा यह हुआ कि शकों को भी वहाँ से भागना पड़ा। शक लोग हिन्दूकुश को पारकर भारत में पिल पड़े और हमारे सिन्ध-प्रान्त पर, लगभग १२०-११५ ईसवी पूर्व, अधिकार कर लिया। सिन्ध में उनकी ऐसी सत्ता जमी कि वह शक-प्रान्त कहलाने लगा और भविष्य के लिए भारत में वही शकों का केन्द्र बना।

इसके बाद शकों के धावे समूचे उत्तरी-पूर्वी भारत पर होने लगे। सौराष्ट्र को (काठियावाड़) उन्होंने शीघ्र ही विजय कर लिया। दक्षिण की तरफ़ उत्तरी महाराष्ट्र और कोंकण तक उनका अधिकार स्थापित हो गया। थोड़े ही समय में उज्जैन से पुष्कर होते हुए शक-राज्य मथुरा तक पहुँच गया और शकों के हमलों की इस बाढ़ में पंजाब के सभी राज्य बह गये।

ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में, जब कि शक लोग भारत में एक महान् शक्ति के रूप में प्रकट हुए थे, यहाँ चार अन्य बड़ी-बड़ी शक्तियाँ थीं जिनमें से कलिंग का राज्य तो शकों के आने के पहले ही समाप्त हो चुका था और मध्य-देश के तुंग राज्य तथा उत्तरापथ के यूनानी राज्य को शकों ने स्वयं विध्वंस कर दिया। इस तरह जब शकों की शक्ति चरम सीमा पर पहुँच रही थी उस समय यहाँ एक ही शक्ति शेष रह गई थी और वह शक्ति थी सातवाहनों का प्रबल राज्य। पहले तो सातवाहनों को शकों से दबना पड़ा किन्तु पीछे उन्होंने ही शकों का विनाश भी किया।

ई० पूर्व ५७ से सातवाहनों की शक्ति बढ़ने लगी। सातवाहन राजा वाशिष्टीपुत्र पुलमाव ने (ई० पूर्व ४४ से ई० पू० ८ तक) मगध को भी, ई० पूर्व २८ में, जीत लिया था। यह वही समय था जब रोम में सम्राट्तंत्र स्थापित हुआ था। भारतीय विद्वानों का कहना है कि पुलमाव ने रोम सम्राट् के पास अपना दूत भी भेजा था।

प्रायः एक शताब्दी तक सातवाहन भारत के एकच्छत्र अधिकारी बने रहे। उनकी दक्षिणी सीमा तामिल तक विस्तृत हो गई थी। सातवाहन युग की समृद्धि अद्वितीय थी और सातवाहन राजाओं का दरबार तो मानो विद्या का केन्द्र ही बना हुआ था।

हम ऋषिक लोगों के पामीर और बदख़शाँ में होने की बात कह आये हैं। ऋषिकों के देश से हूणों के भगाये जाने के बाद ऋषिक लोग स्वयं (१६० ई० पूर्व से ६० ई० पूर्व तक) बहुत कुछ सभ्य हो गये और उनके द्वारा चीन और भारत का परस्पर सम्बन्ध स्थापित होने लगा। अन्त में एक समय ऐसा आया जब ऋषिक लोग हिन्दूकुश के इस पार भी उतरने लगे। धीरे-धीरे पूर्वी हिन्दूकुश की घाटियों को पारकर स्वात और सिन्ध की दूनों में होकर वे गान्धार तक पहुँच गये। फिर हिन्दूकुश के दक्षिण उनकी पाँच छोटी-छोटी रियासतें भी बन गईं। उन रियासतों में से एक का अधिपति कुछ दिनों बाद, कुषाण नामक एक ऐश्वर्यशाली व्यक्ति हुआ और उसने बाक़ी चार रियासतों को भी जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। ये घटनायें उस समय की हैं जब हरहुवती के राजा काबुल को जीत रहे थे। कुषाण पहले चुप रहकर अवसर देखता रहा। उक्त राज्य को जब कमज़ोर देखा तब आक्रमण करके समूचे अफ़ग़ानिस्तान और पश्चिमी-पूर्वी कान्धार को जीत लिया। अपना राज्य पूरी तरह स्थापित कर चुकने पर उसने एक राजदूत चीन देश को भेजा और कहा जाता है कि उसी राजदूत के हाथों पहले-पहल, ई० पूर्व १ में, बौद्धधर्म की एक पुस्तक चीन देश में पहुँची। बहुत दिनों तक शासनारूढ़ रहने के बाद सन् ३० ई० में कुषाण की ४० वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो गई।

कुषाण का बेटा बिम्ब अपने पिता की मृत्यु के बाद शासनारूढ़

हुआ। कुषाण बौद्ध धर्मावलम्बी था पर बिम्ब था शैव। उसने लगभग सन् ३० से ७७ तक राज्य किया। उसने स्वयं भी पंजाब, सिंध और मथुरा प्रान्तों को जीतकर अपने राज्य की सीमा दूर तक फैला ली। उसकी राजधानी बदख़्शाँ में थी। बिम्ब का उत्तराधिकारी इतिहास-प्रसिद्ध राजा कनिष्क हुआ। प्रसिद्ध शक संवत् जो सन् ७८ ई० से शुरू होता है कनिष्क का ही चलाया हुआ माना जाता है। कनिष्क ने खोतन के राजा के साथ मिलकर मध्य देश पर आक्रमण किया। उसने साकेत (अयोध्या) और पाटलिपुत्र को परास्त कर दिया। पाटलिपुत्र पहुँचकर वहाँ से प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष को अपने साथ राजधानी में ले आया। उसने मध्यदेश और मगध का राज्य अपने एक क्षत्रप या गवर्नर के हाथ में छोड़ दिया।

कनिष्क ने लगभग २० साल तक राज्य किया। उसी के राज्यकाल में चीन के एक प्रसिद्ध सेनापति ने सारे मध्य एशिया को जीत लिया था। कनिष्क को भी उसके हाथों हार खानी पड़ी थी और बदख़्शाँ से राजधानी को हटाकर पुरुषपुर अथवा आधुनिक पेशावर में लाना पड़ा। पेशावर में उसने अनेक स्थानों पर स्तूप और विहार बनवाये। सातवाहनों की तरह उसने भी अपनी राजधानी को विद्या का केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया था। महाकवि अश्वघोष के अतिरिक्त आयुर्वेद के प्रसिद्ध पंडित चरक भी उसकी राजधानी में रहते थे। कनिष्क भी बौद्ध-धर्मावलम्बी था और अशोक की तरह उसने भी बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए दूर-दूर तक भिक्षुओं को भेजा था। चीनी सम्राटों का अनुकरण करके कनिष्क ने भी देवपुत्र उपनाम धारण कर लिया था।

कनिष्क के बाद उसके वंश के दो सम्राट् हुविष्क (लगभग १०९ से १४० ई० तक) और वासुदेव (लगभग १४१ से १७६ ई० तक) प्रसिद्ध हुए हैं।

कोरिया और जापान

कोरिया और जापान का वर्णन हमने अब तक नहीं किया है। इसका कारण यह है कि इन देशों के अति प्राचीन इतिहास के विषय में

कुछ ज्ञात नहीं है। उसके बाद भी कोई विशेष बात इन देशों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। कोरियन लोगों ने अपनी सारी शिक्षा और संस्कृति चीनवालों से ही प्राप्त की थी। शानवंश के पतन के बाद जब चौ-वंश ने चीन पर राज्य करना शुरू किया उस समय (ई० पूर्व १२वीं शताब्दी) में कोइत्सी नामक एक सेनापति, चौ-राजा पर क्रुद्ध होकर, लगभग चार हज़ार आदमियों को साथ लेकर कोरिया के क्षेत्र में जाकर आबाद हो गया। उन लोगों ने बहुत दिनों तक वहाँ निवास किया। कोइत्सी के वंशधरों ने वहाँ पर लगभग १०० वर्षों तक राज्य किया। बीच-बीच में चीन से और भी कुछ लोग आकर वहाँ बसते रहे, जिस पर कोइत्सी के आदमियों ने कुछ भी आपत्ति नहीं की, क्योंकि तब भी वहाँ पर्याप्त स्थान पड़ा हुआ था। जगह और उपजाऊ स्थान की कमी नहीं थी। बाद में शी-होयंग-ही चीन का राजा हुआ तब और भी बहुत-से लोग आकर कोरिया में आबाद हो गये। उक्त सम्राट् चीन का सबसे बड़ा विख्यात व्यक्ति समझा जाता है। जैसा उसका पराक्रम था वैसी ही उसमें सनक भी थी। उसके दिमाग़ में अकस्मात् यह विचार घर कर गया कि चूँकि वह बहुत बड़ा आदमी है इसलिए उसके पहले संसार में क्या पैदा हुआ, क्या रहा, अथवा क्या हुआ, यह कुछ भी जानने की आवश्यकता किसी को न होनी चाहिए। अतएव उसने अपने को संसार का प्रथम सम्राट् कहकर घोषित किया। प्राचीन काल के जितने भी स्मारक थे, जितनी भी पुस्तकें थीं, जितने चित्र आदि थे उसने सब कुछ तोड़-फोड़कर फेंक देने की आज्ञा दी। न केवल इतना ही बल्कि उसने अपने नाम का एक संवत् भी चलाया। उसके अन्याय से तंग आकर कुछ सरदार कोरिया की ओर भाग आये और उन्होंने स्वयं कोरिया के राजवंश को उखाड़कर अपना प्रभुत्व वहाँ स्थापित किया। इसके बाद बहुत दिनों तक कोरिया अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त रहा। बाद को कई बार चीन के सम्राटों ने भी उस पर अधिकार कर लिया। फिर बहुत वर्षों के बाद लगभग एक हजार ई० में वहाँ वाम्–कियेन नामक एक दुर्द्धर्ष व्यक्ति पैदा हुआ। उसने कोरिया को स्वाधीन करके एक प्रचंड राज्य के रूप में परिणत कर दिया। तब से बहुत दिनों तक स्वाधीनता का सुख भोगकर आज लगभग आधी शताब्दी से कोरिया अपने पड़ोसी

जापान के साम्राज्य-विस्तार की नीति का शिकार होकर ग़ुलामी की कड़ियों में जकड़ा हुआ शोषित और लांछित हो रहा है।

स्वयं जापान का इतिहास कोरिया से बहुत बाद शुरू होता है। जापान के इतिहास का आभास ईसा के जन्म से भी २०० वर्ष बाद से मिलने लगता है। उस समय ज़िङ्गो नामक एक सम्राज्ञी जापान में राज्य करती थी; यद्यपि जापानियों का विश्वास है कि पौराणिक युग में भी उनका अस्तित्व था अर्थात् बुद्ध के युग में भी उनकी स्वतन्त्र सत्ता संसार में मौजूद थी। जापानी अपने प्रथम राजा का नाम जिम्मूटेनो बतलाते हैं और उसके सूर्यवंशी होने का दावा करते हैं। जापान के इतिहास में यह भी एक अद्भुत बात है कि एक ही राजवंश प्रारम्भ से लेकर आज तक राज्य करता आ रहा है।

जापान के आदिम अधिवासियों की बात विशेष मालूम नहीं है। बहुत संभव है कि कभी कोरिया से होकर चीन के कुछ लोग वहाँ जाकर धीरे-धीरे बसने लगे हों और बाद को मलाया, स्याम प्रभृति देशों से भी कुछ लोग वहाँ पहुँच गये हों। जो भी हो उत्तरी जापान में आइनस नाम की एक जाति रहती है जिसकी आकृति-प्रकृति दक्षिणी जापान के अधिवासियों से बहुत कुछ भिन्न है और नृतत्त्व-शास्त्र के पंडितों का विश्वास है कि यही 'आइनस' लोग जापान के आदिम अधिवासी हैं। जो भी हो, लोग चाहे जहाँ से भी वहाँ पहुँचे हों, इतना निःसंशय है कि शिक्षा और संस्कृति वहाँ कोरिया और चीन से ही पहुँची। ईसा की ४थी शताब्दी में चीन की देखा-देखी जापानियों ने भी लिखना सीखा और लगभग ५५० ई० में कोरिया के एक राजा ने वहाँ शिक्षा-प्रचार के लिए बौद्ध भिक्षुकों को भेजा और बुद्धमूर्ति भी भेजी थी। उसके पूर्व जो धर्म वहाँ प्रचलित था उसका नाम है शिन्टो।

जापानियों ने सब कुछ चीन से सीखा, यहाँ तक कि प्राचीन चीन की राजधानी सियान्फू को देखकर उन्होंने एक विराट् राजधानी गढ़ डाली जिसका नाम नोरा रक्खा गया। कुछ दिन बाद राजधानी कियेतो में आगई और फिर बहुत बाद को टोकियो में, जहाँ वह अब तक मौजूद है। यद्यपि बहुत पहले समूचा देश दलों अथवा जाति-गोष्टियों के शासन

में बटा हुआ था तथापि सम्राट् कोई न कोई बराबर ही रहा। आठवीं शताब्दी में काकातोमी नामक एक व्यक्ति ने चीन की शासन-व्यवस्था का अनुकरण करके जापान की शासन-व्यवस्था में आमूल परिवर्त्तन कर डाला जिसके फलस्वरूप साम्राज्य में उसकी शक्ति और प्रताप खूब बढ़ गया।

आज जापान का जो नाम हम जानते हैं उसका भी एक इतिहास है। जापान की भाषा में उसका नाम है निप्पन यानी सूर्य का देश। यह नाम चीनियों का रक्खा हुआ है। मार्को पोलो नामक इटैलियन यात्री जिसका वर्णन हम आगे करेंगे, जब चीन आदि सुदूर पूर्वीय देशों से घूमकर, अपने देश लौटा तब उसने अपने वर्णन में जापान को 'सियांगो' कह कर याद किया और तभी से योरपीय साहित्य में जापान शब्द निप्पन के लिए प्रचलित हो उठा।

ईसा और ईसाई-मत

पाठकों ने देखा होगा कि समय का बोध कराने के लिए हम जिस आधार का अवलम्बन करते आये हैं वह है ईसा नामक एक महापुरुष का नाम। ईसवी पूर्व या ई० पश्चात् अमुक संख्या कहकर ही हम काल को व्यक्त करते हैं। यद्यपि संसार मे और भी बहुत-से सन्-संवत काल-गणना के लिए व्यवहृत होते हैं लेकिन ईसवी सन् एक सार्वदेशिक संवत बन गया है। यह ईसवी सन् जिन महापुरुष के नाम पर चलता है वे ही थे ईसाई-धर्म के संस्थापक ईसा।

यहूदियों के विवरण में हम कह आये हैं कि उनका धर्मग्रन्थ 'प्राचीन इञ्जील' कहलाता है। कहा जाता है कि उस इञ्जील में लिखा है कि मानव-समाज में एक त्राणकर्त्ता या मसीहा जन्म लेनेवाला है और यहूदियों का उस पैदा होनेवाले मसीहा पर पूर्ण विश्वास है। उससे उन्हें बड़ी-बड़ी आशायें हैं। यहूदियों के अनुसार वे मनुष्यों में ईश्वर के सबसे प्रिय लोग हैं और आनेवाला मसीहा उनकी सुख-सुविधा की पूरी व्यवस्था कर देगा।

जो हो, बहुतों का ख़याल है कि प्राचीन इञ्जील के अनुसार आनेवाला

मसीहा ईसा के रूप में इस संसार मे अवतरित हुआ यद्यपि यहूदी इस बात को नहीं स्वीकार करते।

ईसा के जन्म-सम्बन्धी उक्त पौराणिक बात चाहे सही हो या न हो, पर इतना तो ध्रुव सत्य है कि ईसा के पैदा होने की आवश्यकता ऐतिहासिक उपादानों ने उपस्थित कर दी थी; और निश्चय ही ईसा का प्रादुर्भाव मानवता की एक बहुत बड़ी आवश्यकता थी। ईसा का जन्म मानव-समुदाय की तत्कालीन उन्नति और विकास के लिए वास्तव में अमृत सिद्ध हुआ।

ईसा जब पैदा हुए उस समय यहूदी-समाज अनेक प्रकार के कुसंस्कारों और कुप्रथाओं से भरा हुआ था। मन्दिर में बलिदान के लिए पशुओं की एक विशाल संख्या सर्वदा बँधी रहती थी। ऐसे समय में आज से लगभग दो हज़ार वर्ष पहले, रोम के प्रथम सम्राट् आगस्टस सीज़र के राजत्वकाल में, सोलोमन के किसी एक वंशधर के घर ईसा का जन्म हुआ। ध्यान देने की बात यह है कि रक्त-विचार से ईसा एक यहूदी के घर ही पैदा हुए थे।

ईसा का बचपन इतिहास को मालूम नहीं। उनके बचपन के बारे में इतनी दन्तकथायें प्रचलित हैं, उनके इर्द-गिर्द इतना रहस्य चमत्कार एकत्र कर दिया गया है कि ऐतिहासिक सत्य का शोध कर सकना प्रायः असंभव ही है। ईसा के विषय की किसी कदर विश्वसनीय बातें हम तब से सुनते और जानते हैं जब ईसा की अवस्था ३० वर्ष की हो चुकी थी। और जितना कुछ हम जान पाते हैं उसका आधार है, उनकी वाणी और सुसंवादों के लेखक उनके चार शिष्यों-द्वारा लिखी गई कहानी। इन चार शिष्यों-द्वारा लिखी गई कहानी को इञ्जील का द्वितीय भाग, या नवीन बाइबिल कहा जाता है। उसमें भी ईसा के प्रति भक्ति के आधिक्य और लोक-परम्परा के कारण बहुतेरी अनैतिहासिक बातें घुस गई हैं, जिनके कारण इतिहास का स्वरूप विकृत हो गया है।

ईसा जब अकस्मात् जुडिया में उपस्थित होकर धर्मप्रचार करने लगे तब लोग दंग रह गये। उन्होंने बहुत-सी प्रचलित बातों और रीति-रिवाजों का निर्दयतापूर्वक खंडन करना शुरू किया। उन्होंने घोषणा की कि ईश्वर के लिए सभी मनुष्य समान हैं और कोई भी प्रथा केवल अपनी प्राचीनता

के ही कारण अपरिवर्तनीय अथवा निर्भ्रान्त नहीं हो सकती। ईसा ने भी बुद्ध ही के समान सभी जीवों पर दया करने और अहिंसा का पालन करने की शिक्षा दी; जिससे बहुतों का अनुमान है कि वे अपने प्रारम्भिक जीवन में तिब्बत की तरफ़ आये थे और किसी बौद्ध प्रचारक-द्वारा प्रभावित हुए थे। यह बात चाहे सत्य न हो लेकिन इतना सच भी हो सकता है कि विदेशों में प्रचार करने को गये अनेकों बौद्ध पर्यटकों के द्वारा संसार में फैलनेवाली उक्त विचार-धारा ईसा के कानों में भी पड़ी हो और उससे वे प्रभावित भी हुए हों।

यहूदियों के धर्माचार्य अथवा पुरोहित, जो प्राचीन पैग़म्बरों के आदर्शों से च्युत हो चुके थे, ईसा की विद्रोही वाणी से विचलित हो उठे। एक दिन ईसा ने यहूदियों के मन्दिर में बँधे हुए बलि-पशुओं को खोल दिया और पुरोहितों की कड़ी भर्त्सना की।

उन्होंने कहा :—"भक्ति, विश्वास और प्रेम के अतिरिक्त भगवान् को पाने का अन्य कोई साधन नहीं है; केवल बड़ा आदमी अथवा पुजारी होने से ही कुछ नहीं होता, जो भी अपने कर्मों के द्वारा ऊँचा उठेगा वही अमरत्व का अधिकारी होगा।"

देखते ही देखते इस अकिंचन एवं दुर्बल किन्तु तेजस्वी उपदेष्टा के निकट शत-शत ज्ञान-पिपासुओं और शिष्यों की भीड़ जुटने लगी। यहूदी पुरोहितशाही के अनाचारों से पीड़ित साधारण जन-समाज को मानो सच ही एक त्राणकर्ता मिल गया हो। ईसा ने भी हर किसी को बिना भेद-भाव के गले लगाया। उनके निकट पापी-पुण्यात्मा सभी बराबर थे।

पुरोहितों के अत्याचार का सिंहासन ईसा की लोकप्रियता के धक्कों से हिल गया। न केवल उनकी तथा-कथित पारलौकिक आशाओं पर पानी फिर जाने की सूरत पैदा हो गई वरन् उनकी इहलौकिक सत्ता का भी लोप हो जाने की बिभीषिका उनकी आँखों के सामने नाच गई। कोई अन्य उपाय न देख उन्होंने तत्कालीन रोमन-सम्राट् के सत्ता की शरण ली। किन्तु, चूँकि उन दिनों राजा लोग जनता के धार्मिक विचारों को कोई महत्त्व नहीं देते थे, अतएव ईसा पर अन्य प्रकार का अभियोग चलाया

गया। वह अभियोग था राजद्रोह का। कहा यह गया कि ईसा सम्राट् की सत्ता को चुनौती देते हुए कहते हैं कि मानव-समाज के कर्त्ता-धर्त्ता वे स्वयं हैं। अन्त में ईसा के बारह प्रमुख शिष्यों में से जुडास् नामक एक शिष्य ने रिश्वत खाकर ईसा को गिरफ़्तार करा दिया और उन्हें क्रूसबद्ध होकर मरने की आज्ञा दी गई। ईसा ने असाधारण शान्ति के साथ प्राण-त्याग किया और क्रूस पर चढ़ते-चढ़ते ये वाक्य कहे :—"प्रभु, ये लोग नहीं जानते कि क्या कर रहे हैं, इन्हें क्षमा कर देना।"

ईसा की मृत्यु के साथ ही ऐसा लगा कि उनकी शिक्षा का भी अन्त हो जायगा, क्योंकि पीटर आदि उनके प्रधान शिष्य उनकी शिक्षा को फैलाने की कौन कहे उनका शिष्य कहलाने में भी भय खाने लगे थे। किन्तु ईसा की मृत्यु के बहुत दिनों बाद साधु पाल ने ईसा के उपदेशों का प्रचार करना शुरू किया। फिर उस महान् उपदेष्टा की वाणी को सुनने के लिए जन साधारण चारों ओर से टूटने लगे। पहले तो रोमन सम्राटों ने इधर ध्यान नहीं दिया, किन्तु ज्यों-ज्यों यह नया दल अधिकाधिक जन-प्रिय और शक्ति शाली बनता गया त्यों-त्यों उसके प्रति उनकी शंकायें बढ़ती गईं और अन्त में राज्य-शक्ति जन-शक्ति का दमन करने पर आमादा हो गई। दल के दल लोग आग में ज़िन्दा जलाये गये, गिरोह के गिरोह क्रूस पर चढ़ा दिये गये पर ईसाई-मत का प्रचार नहीं घटा, उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ती ही गई। अन्त में इस विराट् जनान्दोलन के सामने राज्य-शक्ति को घुटने टेक देना पड़ा, और ईसा की मृत्यु के प्राय: तीन सौ वर्ष बाद स्वयं रोमन सम्राट् सीज़र कान्सटैन्टाइन ने ईसाई-धर्म ग्रहण कर लिया। तब से फिर अबाध गति से ईसाई-मत का प्रचार सारे साम्राज्य में होने लगा, और आज के संसार में सबसे अधिक अनुयायी इसी धर्म के हैं।

आठवाँ प्रकरण

गुप्तों का हिन्दू-साम्राज्य

लगभग २७५ ईसवी में मगध में एक नई शक्ति पैदा हुई। उन दिनों प्रयाग के पास एक राजा राज्य करता था जिसका नाम बतलाया जाता है गुप्त। उसका पौत्र चन्द्रगुप्त ३१९-२० ई० में अपने पैत्रिक राज्य का अधीश्वर बना। उसने वैशाली के लिच्छवियों की एक लड़की से विवाह किया और उन्हीं की मदद से पाटलिपुत्र के पतनोन्मुख राज्य पर हमला कर बैठा। यद्यपि इस आक्रमण में उसे सफलता तो मिली पर थोड़े ही दिनों बाद उसे मगध से निकलना पड़ा। लगभग ३४० ई० में उसका पुत्र समुद्रगुप्त राज्य का अधिकारी बना। उसने थोड़े ही दिनों में तत्कालीन भारत के सभी छोटे-बड़े राज्यों को जीत लिया और 'महाराजाधिराज' बन बैठा।

समुद्रगुप्त ने पहले मगध पर आक्रमण किया और सम्भवत: कौशाम्बी* के पास नाग सरदारों को हराकर पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया। मगध और झाड़खण्ड से कोशल आदि जीतता हुआ वह आन्ध्र देश की तरफ़ बढ़ा। कुराल (कोल्लेरु) झील के पास कलिङ्ग और आन्ध्र के सरदारों ने कांची के पल्लव राजा के छोटे भाई विष्णुगोप के साथ मिलकर उसका सामना किया, पर सभी पराजित होकर बन्दी हुए। अन्त में समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार करने पर उन्हें छुटकारा मिला।

इन विजयों से समुद्रगुप्त की चारों ओर धाक जम गई और सीमान्त के सभी राज्यों ने कर देना और उसकी आज्ञा मानना स्वीकार कर लिया सन् ३४५ ई० में जब उसने पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की तब अवसर पाकर गुजरात-कठियावाड़ के राजा ने 'महाक्षत्रप' यानी सम्राट् का पद ग्रहण कर लिया, पर समुद्रगुप्त पाटलिपुत्र से छुट्टी पाते ही बिजली की तरह उक्त

---

* श्री जयचन्द्र विद्यालंकार के अनुसार।

राज्य पर टूट पड़ा। समूचे राज्य में एक भूचाल-सा आ गया और उसकी स्वाधीनता का अन्त हो गया।

भारतवर्ष में जब समुद्रगुप्त का राज्य पूरी तरह स्थापित हो गया, तब काबुल आदि के कुषाण-वंशीय राजा तथा सिंहल (लंका) आदि द्वीपों के राजाओं ने भी उसे सम्राट् स्वीकार कर लिया। दिग्विजय कर चुकने के बाद उसने अश्वमेध यज्ञ किया। वह असाधारण सैनिक और विजेता होने के साथ ही साथ आदर्श शासक भी था। न केवल इतना ही वरन् वह विद्वान् तथा काव्य-संगीत आदि में गम्भीर रुचि रखनेवाला व्यक्ति था। फिर भी राजा में ईश्वरत्व के अस्तित्व के प्रति विश्वस्त समुद्रगुप्त, दुष्ट-दलन के नाम पर साम्राज्य-विस्तार की नीति कठोरतापूर्वक आजीवन बरतता रहा।

समुद्रगुप्त ने अपने छोटे बेटे चन्द्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी बनाने का विचार किया था, किन्तु मंत्रियों के प्रभाव के कारण वह वैसा नहीं कर सका और उसके बाद उसका बड़ा पुत्र रामगुप्त सिंहासनासीन हुआ। सी समय कुषाण-वंश के राजा ने रामगुप्त पर आक्रमण किया और वह विष्णुपद नामक एक पहाड़ी क़िले में बुरी तरह घिरकर संधि-याचना करने को बाध्य हुआ। कुषाण राजा ने संधि की शर्त यह रक्खी कि रामगुप्त अपनी परम प्रसिद्ध सुन्दरी स्त्री ध्रुवस्वामिनी को उसके सपुर्द कर दे। रामगुप्त ने उक्त शर्त स्वीकार कर ली। छोटा राजकुमार, नवजवान चन्द्रगुप्त यह अपमान नहीं सह सका, उसने चट एक योजना बनाकर अपने भाई के सामने पेश की और उसे फिर से ढाढ़स बँधाकर दृढ़ किया। ध्रुवस्वामिनी के संग अपने बहुत-से युवक योद्धाओं को लेकर वह सहेलियों का भेष बना, कुषाण राजा के ख़ेमे में घुस गया; और थोड़ी ही देर में वहाँ जितने सैनिक थे सबका काम तमाम कर डाला। इसके बाद एक निश्चित समय पर उसने शंख फूँका जिससे गढ़ के भीतर की सेना शत्रु-सेना पर टूट पड़ी और उसे मार भगाया। फिर चन्द्रगुप्त एक विराट् सेना तैयार करके पश्चिम की ओर बढ़ा। समूचे पंजाब प्रान्त को जीतकर वह बलख़ तक चढ़ दौड़ा और कुषाण राजा को उसके ही दुर्ग और केन्द्र में जाकर पराजित किया। थोड़े ही दिनों बाद

कायर रामगुप्त मर गया और उसका छोटा भाई विजेता चन्द्रगुप्त राजगद्दी पर बैठा। ध्रुवस्वामिनी ने अपने इस उद्धारक वीर के प्रति आत्म-समर्पण करके अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की और उसके साथ विवाह कर लिया।

बलख की लड़ाई के पूर्व भी कुमार चन्द्रगुप्त पूर्व भारत-की कई सम्मिलित शक्तियों को पराजित कर चुका था। सन् ३९०ई० में उसने दक्षिण पर भी चढ़ाई की और विजयी होकर वापस लौटा। अन्त में अपनी विजयों से प्रोत्साहित होकर उसने 'विक्रमादित्य' नाम ग्रहण किया।

सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपनी पुत्री प्रभावती की शादी की थी महाराष्ट्र के राजकुमार रुद्रसेन से, जिसकी मृत्यु के बाद प्रभावती स्वयं अपने नाबालिग़ पुत्रों की ओर से शासन-कार्य चलाती रही। इस तरह जिस समय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य उत्तर-भारत के सम्राट्-पद को सुशोभित कर रहा था उसी समय (लगभग सन् ३९५-४१५ ई०) उधर सुदूर दक्षिण में उसकी पुत्री भी राज कर रही थी।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद उसका पुत्र, कुमारगुप्त प्रथम के नाम से शासनारूढ़ हुआ। उसने लगभग चालीस वर्षों (४१४ ई०-४५५ ई०) तक अत्यन्त सुखपूर्वक राज्य किया। उधर सुदूर दक्षिण में इस अवधि में चन्द्रावती के पुत्र प्रवरसेन (४१५–३५ई०) तथा पौत्र नरेन्द्रसेन (सन् ४३५ से ४७० ई० तक) राज्य करते रहे। कुमारगुप्त ने अपने शासनकाल में नालन्द नामक स्थान में एक महाविहार की स्थापना की जो बहुत दिनों तक विद्या और संस्कृति का केन्द्र बना रहा। यद्यपि आन्तरिक शासन इस युग का अत्यन्त शान्त और सुव्यवस्थित रहा, पर उत्तरी सीमान्त पर एक नई आँधी, एक नई ऐतिहासिक शक्ति टक्कर मार रही थी। यह शक्ति थी हूणों की, जो प्रायः पाँच सौ वर्ष तक चुप रहने और कष्टमय जीवन बिताने के बाद चौथी शताब्दी में संसार को अपने धावों से प्रकम्पित करने लगी थी। उनकी एक बाढ़ बोल्गा पार कर योरप पहुँची और रोम-साम्राज्य के सर पर मँडराने लगी। वे मध्य योरप तक पहुँच गये और उनके तथा उनके सहजातियों के नाम पर हुंगरी या हंगरी तथा बल्गेरिया के देश गढ़ उठे।

हूणों ने एशिया पर भी धावा किया और उसकी सारी सुख-समृद्धि को तहस-नहस कर डाला।

सन् ४५४ ई० में हूणों का एक दल अफ़ग़ानिस्तान को पारकर पंजाब पर चढ़ दौड़ा। इधर भारत में कुमारगुप्त का शासन डगमगा रहा था, और गुप्तसाम्राज्य का युवराज स्कन्दगुप्त हूणों और पश्चिम के अन्य विद्रोही राजाओं से लड़ने में व्यस्त था। अन्त में तीन महीने के अन्दर उसने अपने सभी शत्रुओं को परास्त कर दिया, पर राजधानी लौटने पर उसने अपने पिता की मृत्यु का दुःखद समाचार सुना, और भारी हृदय से ४५५ ई० में राज्य की बागडोर अपने हाथों में ली। हूणों को तो उसने ऐसी करारी हार दी थी कि वे फिर आगामी आधी शताब्दी तक गुप्तों से छेड़खानी करने का साहस नहीं कर सके। उस विजय का एक स्मारक आज भी ग़ाज़ीपुर ज़िले के सैदपुर-भीतरी नामक क़स्बे में पाया जाता है। स्कन्दगुप्त ने साम्राज्य को अक्षुण्ण रखते हुए बारह वर्ष (सन् ४६७ ई०) तक गौरव-पूर्वक राज्य किया।

स्कन्दगुप्त के बाद दस वर्ष की लघु अवधि में तीन गुप्त राजाओं ने राज्य किया, जिनमें कोई भी उल्लेखनीय नहीं कहा जा सकता। फिर ४७७ से ४९६ ई० तक बुद्धगुप्त नामक एक राजा ने राज्य किया। इसके बाद एक और उल्लेखनीय राजा हुआ भानुगुप्त, जिसे ही संभवतः बालादित्य द्वितीय कहा गया है।

उधर मध्य-एशिया में हूणों की लूट-पाट जारी थी। सन् ४८४ ई० में ईरान का सम्राट् फीरोज़ उनसे लड़ता हुआ मारा गया और उन्होंने जाने कितने नगर उजाड़ डाले, जाने कितनी सभ्य बस्तियाँ मटियामेट कर दीं। अपनी उधर की विजयों से प्रोत्साहित हो उन्होंने फिर भारत की ओर मुंह किया और पाँचवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में पश्चिमोत्तर प्रान्तों पर अधिकार कर लिया। ५०० ई० में तोरमान नामक हूण सरदार गान्धार का राजा था, जिसने गुप्तसाम्राज्य को दुर्बल देखकर मालवा तक धावा किया। भानुगुप्त ने उससे मोर्चा लिया अवश्य पर पराजित हुआ। तोरमान के बाद उसका प्रचंड प्रतापी पुत्र मिहिरगुल अधिकारारूढ़ हुआ। उसने अपनी राज-

धानी स्यालकोट को बनाया। वह शैव था और अत्यन्त असहिष्णु एवं अत्याचारी भी। उसने भानुगुप्त बालादित्य पर आक्रमण किया पर बालादित्य ने उसे धोखा देकर क़ैद कर लिया किन्तु बालादित्य की माता की दया से वह छूटकर काश्मीर के राजा की शरण में गया, क्योंकि उसका अपना राज्य उसके छोटे भाई ने हथिया लिया था। अन्ततः उसने अपने आश्रयदाता के साथ भी विश्वासघात किया और उसका राज्य छीनकर वहाँ खूब अत्याचार किये।

मिहिरगुल तथा अन्य हूण सरदारों के अत्याचार से जब जनता तंग आ गई और गुप्त सम्राटों की नपुंसकता जब पूरी तरह प्रकट हो गई तब जनता ने स्वयं अपना संगठन किया और जनता के 'नेता' यशोधर्मा के नेतृत्व में हूणों से मोर्चा लिया। जिस मिहिरगुल से गुप्त सम्राट् बालादित्य काँपता रहता था, उसे ही यशोधर्मा ने हिमालय के पार मार भगाया और दुर्बल गुप्तों के राज्य पर भी उसने अधिकार कर लिया। लगभग सारा उत्तर-भारत उसे अपना उद्धारक मानने लगा। संभवतः महाराष्ट्र का राज्य भी उसके अन्तर्गत आगया था। यशोधर्मा के विजय-स्तंभ आज भी पाये जाते हैं। उसके साथ ही भारत का प्राचीन इतिहास भी समाप्त होता है।

गुप्त सम्राटों के शासनकाल में भारत की सभ्यता और संस्कृति उन्नति के शिखर पर पहुँची हुई थी। न केवल उनका शासन उच्चतम शासन का नमूना है—प्रान्तों, ज़िलों, ग्रामों, जनपदों तथा विभिन्न विभागों में बँटा हुआ सुशासित और सुप्रवन्धित—बल्कि शिल्प, वाणिज्य, साहित्य और कला के लिए भी उनका युग एक स्वर्ण-युग था।

उसी युग में फाहियेन नामक एक चीनी बौद्ध विद्वान् बुद्ध की जन्म भूमि में उच्च शिक्षा प्राप्त करने ३९९ ई० में आया था और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्य में ४०५ ई० से ४६६ ई० तक रहा था। उसने अपने यात्रा-विवरण में भारत को संसार का सर्वोत्तम सभ्य देश लिखा है। ठीक उसी समय एक भारतीय विद्वान् कुमारजीव चीन में शिक्षा देने गया था। वह ४०१ ई० में में चीन पहुँचा था और वहाँ अश्वघोष, नागार्जुन आदि के ग्रन्थों का चीनी में अनुवादकर अपना शिक्षण-कार्य करता रहा। तीसरा विद्वान् था गुणवर्मा। वह काश्मीर का युवराज था, पर बौद्ध भिक्षु बनकर

जावा आदि होता हुआ प्रचार के सिलसिले चीन तक पहुँच गया था। आसंग और वसुबन्ध नामक दार्शनिक भी उसी युग में हुए थे। महायान दर्शन के वे आचार्य माने जाते हैं। पाँचवीं शताब्दी में मगध में बुद्धघोष नामक एक और पंडित हुआ था जिसने त्रिपिटक का पाली-भाष्य लंका में जाकर लिखा था।

मूर्तिकला और स्थापत्यकला का भी खूब विकास हुआ। गुरुत्वा-कर्षण के सिद्धान्त की स्थापना करनेवाला प्रसिद्ध ज्योतिषी आर्यभट भी तभी ४७६ ई० में पैदा हुआ था। इस युग के काव्य-साहित्य में विष्णुशर्मा का पंचतंत्र एक अमर कृति है। महाकवि कालिदास भी उसी समय हुए थे। तात्पर्य यह कि वह युग वास्तव में भारत का स्वर्ण-युग था।

स्वी और ताङ्ग-वंश

मध्य-एशिया के उस भाग में जिसे आज पश्चिमी तुर्किस्तान कहते हैं तुर्क लोगों ने अपनी जड़ जमा ली थी और बहुत-से तुर्की अफ़सर और तुर्की फ़ौजें फ़ारस म मौजूद थीं। पार्थिया का राज्य, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे, मिट चुका था और पर्थियन लोग फ़ारस के साधारण जन-समाज में घुल-मिल चुक थे। मध्य-एशिया के इतिहास में आर्य-जाति की कोई भी ख़ानाबदोश शाखा नहीं रह गई थी और मंगोल लोग उनकी जगह ले चुके थे। तुर्क लोग चीन से कैस्पियन सागर तक समूचे एशिया के अधीश्वर बन बैठे थे।

छठी शताब्दी के ऐसे ही समय में स्वी राजवंश के शासन-काल में चीन पुनःसंगठित हो उठा और काफ़ी दिनों तक चीन की मर्यादा और समृद्धि की वृद्धि करने के बाद ताङ्ग-वंश को अपना अधिकार सौंपकर इतिहास के पन्नों से सदा के लिए मिट गया। ताङ्ग-वंश का राज्य चीन के विकास में, उसकी उन्नति के इतिहास में, एक महान् अध्याय है।

चीन के हान राज-वंश का वर्णन हम पहले कर आये हैं, जिसका अंत ईसा की तीसरी शताब्दी में हो गया था। उसके बाद बहुत दिनों तक चीन शत शत छोटे राज्यों में विभक्त होकर पराभव का जीवन बिताता रहा। चीन का सौभाग्य-सूर्य फिर से ताङ्ग-वंश के शासनकाल में ही उदय

हो सका, और तभी वह फिर संयुक्त होकर एक महान् राज्य बन सका। यह समझना भूल होगा कि लगभग ३०० वर्षों के अपने विश्रृंखल जीवन में चीन अपनी संस्कृति और कला को भी खो बैठा होगा, बल्कि इसके विपरीत उत्तर से तातारों के निरन्तर आक्रमणों के बावजूद भी चीनियों की सभ्यता और संस्कृति अक्षुण्ण रही। निस्सन्देह भारत से नये विचारों और बौद्ध-धर्म का चीन में आगमन इस कार्य में सहायक हुआ था।

ताङ्ग-राजवंश, ६१८ई० में, का-ओ-त्सू नामक सम्राट् द्वारा स्थापित हुआ था। का-ओ-त्सू ने न केवल समूचे चीन को ही संयुक्त और एक शासनभुक्त किया बल्कि उसने पृथ्वी के एक बहुत बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर डाला। अन्नाम और कम्बोडिया तक दक्षिण में और फ़ारस तथा कैस्पियन सागर तक पश्चिम में उसका राज्य विस्तृत हो चुका था। कोरिया का भी कुछ भाग थोड़े दिनों के लिए उसके साम्राज्य में आगया था। साम्राज्य की राजधानी थी सायान-फ़ू में, जो समूचे पूर्व एशिया में अपनी संस्कृति और वैभव के लिए प्रसिद्ध नगर था।

ताङ्ग-सम्राटों ने विदेशी व्यापार और वैदेशिक सम्बन्धों को भी खूब प्रोत्साहन दिया। लगभग ३००ई० में, इस्लाम के आगमन के पहले कैन्टन के पास दक्षिणी चीन में कुछ अरब लोग आबाद हो गये थे। उन अरबों की सहायता से ताङ्ग-सम्राटों ने अपने समुद्र-पार के व्यापारों को दूर-दूर तक फैलाया। ताङ्ग-राजवंश के प्रारम्भिक दिनों में चीन देश के अपने तीन धर्मों (कनफ़्युशियस, ला-ओ-त्सि तथा बुद्ध के धर्म) के अतिरिक्त और दो बाहरी धर्म भी वहाँ आ गये। इनमें एक था ईसाई-धर्म, जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं और दूसरा था इस्लाम। ताङ्ग राजाओं ने पूर्व की परम्परा के अनुसार महान् सहिष्णुता का परिचय दिया और मुसलमान अरबों को मसजिद तथा ईसाइयों को गिरजे आदि स्थापित करने की आज्ञा दे दी।

सन् ७५१ ई० में चीनियों और मुसलमान अरबों के बीच तुर्किस्तान में संघर्ष हो गया, जिसमें बहुत-से चीनी बन्दी हुए थे। कहा जाता है कि इन्हीं चीनी बन्दियों ने अरबों को काग़ज़ बनाने की कला सिख-

लाई थी। ताङ्ग-राजवंश का शासन सन् ९०७ ई० तक यानी लग-भग ३०० वर्षों तक, क़ायम रहा। उक्त अवधि में चीन ने न केवल एक महान् संस्कृति का ही निर्माण किया बल्कि सर्व-साधारण के दैनिक जीवन में भी सुख और समृद्धि की ख़ूब वृद्धि हुई। बहुत-सी ऐसी बातें, जो योरप बहुत बाद को जान पाया, चीनवालों को तभी मालूम थीं। काग़ज़ की बात हम पहले ही बता चुके हैं, चीनवाले बारूद भी बनाते थे और उनमें इंजीनियरिंग का ज्ञान भी ख़ूब उन्नत था।

ताङ्ग-वंश के प्रारम्भिक सम्राटों में से एक था, ताई-त्सुङ्ग जिसका राजत्वकाल ६२७ ई० से शुरू हुआ था। उसी के काल में फ़ारस से ईसाई-धर्म-प्रचारकों का एक दल चीन में धर्म-प्रचार की अनुमति लेने गया था। सम्राट् ने उनके धार्मिक विश्वासों को सुना, दुभाषियों के द्वारा उन्हें समझा और, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, उन्हें प्रचार की अनुमति दे दी। इसी तरह उसके पास हज़रत मुहम्मद के संदेशवाहक भी ६२८ ई० में आये थे और समादृत हुए थे।

चीन की इस उन्नति के साथ ही साथ शासक-वर्ग में विलासिता की भी वृद्धि होती गई जैसा कि साधारणतया एकतंत्र शासन में हुआ करता है। राज्य में बहुत-सी बुराइयाँ धीरे-धीरे घुस गईं। राज्य की आर्थिक अवस्था बिगड़ती गई और उधर कर-वृद्धि का ताता बँध गया। फल स्वभावतः यह हुआ कि जनसाधारण में असंतोष फैला, विद्रोह हुए और ताङ्ग-सम्राटों का नाम भी संसार से मिट गया।

पार्थिया और सैसेनिड्स

पाठकों को याद होगा कि सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके एक सेनापति सिलिड्कस और उसके वंशधरों ने कुछ दिन तक भारत के पश्चिमी भाग से एशिया माइनर तक राज्य किया। लगभग ३०० वर्षों तक सुखपूर्वक राज्य करने के बाद वे लोग, मध्य-एशिया की एक अन्य जाति—पार्थियनों—द्वारा मार भगाये गये। ये ही पार्थियन लोग थे, जिन्होंने रोमन लोगों को उनके प्रजातंत्र युग के प्रारम्भिक दिनों में परास्त किया था, और परवर्ती महान् रोमन साम्राज्य भी जिन्हें कभी अपने शासन में अन्तर्भुक्त नहीं कर

सका। लगभग ढाई शताब्दियों तक पार्थियन लोग फ़ारस पर राज्य करते रहे, पर अन्त में एक आन्तरिक क्रान्ति के कारण विवश होकर उन्हें भागना पड़ा। फ़ारसवालों ने स्वयं अपने इन विदेशी शासकों के विरुद्ध विद्रोह किया और उनके स्थान में अपनी ही जाति और धर्मवालों का राज्य स्थापित किया। उनका प्रथम राजा हुआ अर्देशिर प्रथम और उसके राजवंश का नाम पड़ा सैसेनिड राज्यवंश। अर्देशिर ज़रथुश्त्र मत का माननेवाला था और अन्य धर्मों के प्रति अत्यन्त असहिष्णु था। सैसेनिड राजाओं और रोम-साम्राज्य के बीच निरन्तर युद्ध चलते रहे और सैसेनिडों को रोमन सम्राटों में से भी एक को गिरफ़्तार करने का गौरव प्राप्त हुआ था। कई बार फ़ारस की फ़ौज कुस्तुन्तुनिया तक पहुँच गई और अन्ततः उन्होंने मिस्र को भी जीत लिया था। सैसेनिडों का साम्राज्य प्रधानतः ज़रथुश्त्र मत के प्रति अपने उत्साह और जोश-ख़रोश के लिए ही प्रसिद्ध है। अन्त में जब सातवीं शताब्दी में इस्लाम का उद्भव हुआ तो उसने सैसेनिड-साम्राज्य और उनके राज्य-धर्म दोनों का अन्त कर दिया। बहुत-से ज़रथुश्त्र मतावलम्बी इस परिवर्तन से घबराकर तथा मुसलमानों द्वारा आतङ्कित होकर भारत में भाग आये, जिनके वंशधर आज भी पारसी नाम से हमारे देश में मौजूद हैं।

जिन दिनों फ़ारस में सैसेनिड सम्राट् राज्य करते थे उन्हीं दिनों सीरिया के रेगिस्तान में एक छोटा-सा राज्य उठ खड़ा हुआ, और थोड़े दिनों तक जीवित रहकर भी अपने वैभव की छाप इतिहास के पन्नों पर अमिट कर गया। सीरिया के रेगिस्तान में पामीरा एक प्रगतिशील एवं सम्पन्न व्यावसायिक केन्द्र बन गया। आज भी दीखनेवाले वहाँ के ध्वंसावशेषों में तत्कालीन इमारतों की विशालता की एक झलक पा सकते हैं। उक्त राज्य के इतिहास में एक बार ज़िनोबिया नामक एक स्त्री रानी हुई थी। कहा जाता है कि वह अत्यन्त प्रतिभाशाली और प्रतापी शासक थी। परन्तु अन्त में वह रोमवालों द्वारा परास्त हुई और शृङ्खलाओं में जकड़कर रोम ले जाई गई। ईसवी सन् के प्रारम्भिक दिनों में भी सीरिया एक समृद्धिशाली भू-भाग था। नवीन इञ्जील अथवा ईसाई बाइबिल में इसका पर्याप्त वर्णन पाया जाता है। यद्यपि वहाँ पर कुशासन और

अव्यवस्था थी, फिर भी बड़े-बड़े नगर थे और घनी आबादी थी, बड़ी-बड़ी नहरें थीं और विशाल व्यावसायिक केन्द्र थे। लगभग ७०० वर्षों के अन्दर युद्ध और कलह ने नगर को वीरान बना दिया और इमारतों को मिस्सार कर दिया। आज भी पामीरा और बालबाक के ध्वंसावशेषों से हसरत बरसती है।

हज़रत मुहम्मद और इस्लाम

अब तक हमने उस भू-भाग पर ध्यान नहीं दिया है जो मिस्र, सीरिया, ईराक़, फ़ारस आदि देशों से घिरा हुआ है। वह देश है अरब का रेगिस्तानी भू-भाग। जिन दिनों ईराक़, मिस्र, सीरिया और एशिया-माइनर में बड़े-बड़े राज्यों और बड़े नगरों का उत्थान-पतन हो रहा था, उस समय भी अरब में संसार की सभ्यतायें और संस्कृतियाँ नहीं पहुँच पाई थीं। कारण यातायात की सुविधा का अभाव ही कहा जा सकता है, यद्यपि यह सही है कि अरबवाले प्राचीन काल से यात्रा किया करते थे और तिजारती थे जिससे स्वभावतः ही मिस्र, सीरिया, ईराक़ आदि के महान् व्यापारिक केन्द्रों तक उनकी पहुँच रही होगी। जो भी हो न तो उन्होंने स्वयं ही कभी दूसरे देशों को जीतने की चेष्टा की और न दूसरे समीपवर्ती शक्तियों के लिए ही यह सुविधाजनक अथवा लाभदायक था कि वे इस रेगिस्तानी प्रदेश में अपना राज्य स्थापित करते।

कहा जाता है कि रेगिस्तान और पर्वत कठोर सन्तान पैदा करते हैं, जिन्हें अपने जाति की आज़ादी अत्यन्त प्रिय होती है। अरब में दो छोटे-छोटे नगर थे मक्का और एथ्रिब, जो समुद्र के किनारे बसे थे। बाक़ी जन-संख्या रेगिस्तानों के उजाड़ में रहती थी और बद्दू कहलाती थी। इनके साथी थे ऊँट, घोड़े और कभी-कभी गधे भी। ये बद्दू लोग लड़ाकू, दम्भी और तेज़-तर्रार होते थे। इनका जीवन ख़ानाबदोशों का जीवन था और इनके गिरोहों की व्यवस्था पितृ-प्रधान परिवारों जैसी थी। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, सीरिया में एक छोटा-सा राज्य उठ खड़ा हुआ था, जो अरबों का ही था, लेकिन वह ख़ास अरब में नहीं था। अरब लोग तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी रेगिस्तानों में ही रहते रहे यद्यपि उनके जहाज़

विदेशों के व्यापार से लदे रहा करते थे। बाह्य प्रभावों से कुछ लोग ईसाई और यहूदी भी हो गये लेकिन अधिकांश अरब मक्का के काले पत्थरों और ३६० मूर्तियों के ही पूजक बने रहे।

इतिहास के लिए यह क्या आश्चर्य की बात नहीं है कि जो जाति इतनी लम्बी अवधि तक एक नगण्य अस्तित्व की अवस्था में रहती आई हो, संसार की महती घटनाओं से एकदम असम्बन्धित, वही अकस्मात् जाग पड़े और संसार को अपने पराक्रम और साहस से चकित कर दे ? वास्तव में संसार के इतिहास में अरबों का उत्थान और उनकी सभ्यता और संस्कृति का सारे संसार में फैलना एक महान् और साथ ही आश्चर्य-जनक घटना है।

जिस शक्ति ने, जिन विचारों ने अरबों को जगाया, उनमें आत्म-विश्वास तथा उत्साह भरा, वह था इस्लाम। और यह इस्लाम था मक्का में (५७० ई०) पैदा हुए मुहम्मद नामक एक नये पैग़म्बर द्वारा-स्थापित किया गया एक नया धर्म। मुहम्मद शान्त जीवन व्यतीत करनेवाला एक आदमी था। अपने पड़ोसियों का विश्वस्त और प्यारा, किन्तु वही मुहम्मद जब नये धर्म का प्रचार करने लगा और मक्का की मूर्तियों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने लगा तब उसका इतना विरोध हुआ कि उसके जान के लाले पड़ गये और मक्का छोड़कर उसे भागना पड़ा। मुश्किल से उसकी जान बच सकी।

मक्का से भगाये जाने पर वह येथ्रिब जाकर कुछ मित्रों और सहायकों के साथ रहने लगा। मक्का से मुहम्मद के इस पलायन को 'हिजरत' कहा जाता है और मुसलमानों का हिजरी संवत् तभी से (ई० ६२२ ई० से) शुरू होता है। इस्लाम का प्रारम्भ इसी हिजरत के समय से कहा जाता है, यद्यपि एक तरह से वह और भी बहुत पहले से शुरू हो चुका था। येथ्रिब ने मुहम्मद का स्वागत किया और अपना नाम परिवर्तित करके "मदीनात-उल-नबी" रक्खा, जिसे संक्षेप में आज मदीना कहा जाता है। मुहम्मद के सहयोगी अंसार कहलाते हैं और उनके वंशधर आज भी अंसार या अंसारी कहलाने में अपना गौरव समझते हैं। मक्का से भागने के सात वर्षों के भीतर ही मुहम्मद के सहयोगियों ने मक्कावालों का

मुहम्मद की शिक्षायें मान लेने को विवश कर दिया। इधर मदीने में रहते समय मुहम्मद ने कई अन्य राजाओं के पास अपने सन्देशवाहक भेजे थे और कहलाया था कि वे 'एक ईश्वर' और उसके पैग़म्बर मुहम्मद को मान लें। कुस्तुनतुनिया के सम्राट् हिरेक्लियस, फ़ारस के राजा और चीन के सम्राटों को यह सन्देश भेजे गये थे। उन्हें निश्चय ही आश्चर्य हुआ होगा कि यह अद्भुत आदमी कौन है जो उन जैसे प्रतापी सम्राटों को आज्ञा देने का साहस कर सकता है। इसके साथ ही इन सन्देशों के भेजने से हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि मुहम्मद को अपने और अपने आदर्शों पर कितना दृढ़ विश्वास था और यह विश्वास की दृढ़ता ही, जिसे उसने अरबवालों को तथा अपने अनुयायियों को प्रदान की, उन्हें नगण्य रेगिस्तानी आदमियों के पद से ऊँचे उठाकर लगभग आधे संसार के विजेता के रूप में प्रतिष्ठित कर सकी।

उधर ईसाई-धर्म में बहुत-सी बुराइयाँ घुस गई थीं। चर्च और गिरजे अनियंत्रित अधिकारों, स्वेच्छाचारों और अनाचारों के अड्डे बन रहे थे: मनुष्य मनुष्य का अंतर अधिकार और अधिकार-हीनता के कारण अत्यन्त व्यापक हो उठा था। स्वभावतः इस्लाम के भ्रातृत्व और समानता (सभी मुसलमानों की) के सन्देश में सर्व-साधारण को एक विशेष आकर्षण प्रतीत हुआ होगा। पततोन्मुख ईसाई-धर्म के मुक़ाबिले न सिर्फ़ अरबों के सामने बल्कि सारी मानवता के सामने जनतंत्र का यह नारा प्रिय हो उठा होगा।

अन्त में मुहम्मद ६३८ ई० में, हिजरत के १० साल बाद मर गया। अरब की भिन्न-भिन्न लड़ाकू जातियों को मिलाकर एक राष्ट्र में परिवर्तित कर देने में उसे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई थी। उसकी मृत्यु के बाद उसी के परिवार के एक व्यक्ति हज़रत अबूबकर ख़लीफ़ा या प्रधान हुए। यह उत्तराधिकार आम सभाओं में एक प्रकार के निर्वाचन द्वारा प्राप्त किया जाता था। दो साल बाद अबूबकर की भी मृत्यु हो गई और हज़रत उमर उनके बाद ख़लीफ़ा हुए और उन्होंने १० साल तक अकंटक शासन किया। अबूबकर और उमर दोनों के व्यक्तित्व महान् थे और उन्होंने ही अरब और इस्लाम के वास्तविक वैभव की नींव डाली

ी। खलीफ़ा का पद धर्माचार्य और शासक दोनों के संयुक्त अधिकारों
ा युक्त पद होता था। यद्यपि अबूबकर और उमर इतने उच्च पद पर
ासीन और महान् शक्ति-सम्पन्न थे किन्तु उन्होंने इस्लाम के जन-
ंत्रात्मक उपदेशों के अनुसार ही विलासिता के जीवन से अपने को
ादा अलग रक्खा। इतने पर भी उनके निजी तौर पर उदाहरण
उपस्थित करने के बावजूद भी अत्यन्त शीघ्र उनके अफ़सर और
मीर विलासिता का जीवन बिताने लगे। वे लोग रेशमी कपड़े तथा
ाभूषण आदि धारण करने लगे। अबूबकर और उमर के बारे में बहुत-
ी ऐसी कहानियाँ प्रसिद्ध हैं कि अपने जीवन-काल में उन्होंने विलासी
फ़सरों को अनेक बार दंड दिये और पद-च्युत किये।

अबूबकर और उमर के लघु शासनकाल में ही अरबों ने पश्चिमी
ोमन साम्राज्य और फ़ारस के सैसेनिड राज्य को परास्त कर दिया था।
ा केवल इतना ही बल्कि ईसाई और यहूदियों का पवित्र नगर जेरुशलेम
ी उनके अधिकार में आ गया था। सीरिया ईराक़ तथा फ़ारस का
म्पूर्ण भू-भाग नवीन अरब-साम्राज्य का अंग बन गया था।

अन्य धर्म-संस्थापकों की भाँति मुहम्मद भी तत्कालीन अरब-समाज
ें प्रचलित कई सामाजिक प्रथाओं के कट्टर विरोधी थे। अरब जनता अनि-
ान्त्रित राजाओं और स्वच्छन्द पुरोहितों शाही के अत्याचारों में कसी हुई थी
ातएव स्वभावतः परिवर्तनों के लिए लालायित थी। इस्लाम की शिक्षा
ं और मुहम्मद के प्रादुर्भाव ने उन्हें अवसर दिया, जनतन्त्र और समता के
ारों ने उनको आकर्षित किया और वे लक्ष-लक्ष दरिद्र तथा पददलित
ुहम्मद के झंडे के नीचे आ खड़े हुए। यह सच है कि यद्यपि सामाजिक
ार्थ में कोई महान् क्रान्ति नही उपस्थित हो सकी फिर भी बहुत-सी
ामाजिक कुरीतियों का नाश तो हो ही गया और किसी क़दर जनता
ी हालत भी सुधरी ही।

फिर तो अरब लोग विजय-मार्ग पर दिन प्रतिदिन अग्रसर होने
गे और उन्हें प्रायः बिना लड़े ही विजय प्राप्त होने लगी। पैग़म्बर की
ृत्यु के २५ वर्ष के भीतर ही अरबों ने फ़ारस, सीरिया, आरमेनिया, मध्य
ाशिया का एक विशाल भू-भाग, मिस्र तथा उत्तरी अफ़्रीका के कुछ भाग

जीत लिये। इस तरह अरब पूर्व और पश्चिम दोनों ही ओर बढ़ते गये। पूर्व में हिरात, काबुल और बलख होते हुए वे लोग सिन्ध नदी और सिन्ध देश तक पहुँच गये और उधर पश्चिम में उनका सेनापति ओकबा मोरक्को तक पहुँच गया। कहा जाता है कि मोरक्को के बाद जब अटलान्टिक का विशाल सागर दिखाई पड़ा तब ओकबा ने अफ़सोस के साथ कहा था कि, "हे भगवन्! अब तेरे नाम में विजय करने के लिए पृथ्वी ही नहीं शेष रही!

दूसरा अरब सेनापति तारीक़ मोरक्को और अफ़्रीका होता हुआ अपनी सेना के साथ स्पेन और योरप में उतरा। जिब्राल्टर का नामकरण भी उसी के नाम पर हुआ था। उसका प्राचीन नाम था ज़ाबाल—उत्-तारीक़ या तारीक़ का पत्थर जिससे बिगड़कर आज वह जिब्राल्टर हो गया है। स्पेन को विजय करने के बाद अरबवाले दक्षिणी फ़्रांस में पिल पड़े और इस तरह से लगभग १०० वर्ष में अरब-साम्राज्य स्पेन और फ़्रांस से लेकर उत्तरी अफ़्रीका तथा मंगोलिया की सीमा तक विस्तृत हो गया।

अरबों का जो दल दक्षिणी फ़्रांस तक पहुँचा था वह संख्या में बहुत कम था, अपने शासन-केन्द्र से बहुत दूर था और उनकी केन्द्रीय सरकार मध्य-एशिया को विजित करने में संलग्न थी। सैनिक दृष्टि से इतनी बुरी तथा अवांछनीय स्थिति में होते हुए भी उन मुट्ठी भर व्यक्तियों ने पश्चिमी योरप के लोगों को संत्रस्त कर दिया था। अन्त में ७३० में चार्ल्स मार्टेल के नेतृत्व में योरप की एक संयुक्त सेना संगठित हुई जिसने अरबों से मोर्चा लिया। टावर्स के मैदान में अरबों की पराजय हुई जिससे योरप अरबों के शासन में आने से बच गया। इतिहासज्ञों का मत है कि यदि इस युद्ध में अरब विजयी हो गये होते तो योरप का इतिहास आज बिलकुल ही भिन्न होता।

स्पेन से मंगोलिया तक विजित करके रेगिस्तानों के ये निवासी विशाल नगरों के निर्माता और वैभवमय राज-प्रासादों के निवासी बने; पर शीघ्र ही उनमें पारस्परिक कलह के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे, क्योंकि अरबों के नेता होने का मतलब था एक विशाल साम्राज्य के भाग्य का विधाता होना। अतएव खलीफ़ा पद के लिए निन्तर द्वन्द्व चलने लगे। इसके अतिरिक्त पारिवारिक और सामूहिक झगड़े भी कभी-कभी बड़े गृह-कलहों

के रूप में बदल जाते थे। इन कलहों के कारण इस्लाम में दो प्रधान दल बन गये, जो आज भी शिया और सुन्नी के नाम से वर्त्तमान हैं।

अबूबकर और उमर की मृत्यु के बाद ही ख़लीफ़ा पद के लिए बड़े पैमाने पर कलह और षड्यन्त्र होने लगे। हज़रत मुहम्मद के दामाद हज़रत अली कुछ दिनों तक ख़लीफ़ा-पद पर रहे किन्तु अन्त में उनकी हत्या कर डाली गई और कुछ ही दिनों बाद उनके पुत्र हुसेन सपरिवार कर्बला के मैदान में मार डाले गये। इसी कर्बला की स्मृति मुसलमान लोग मुहर्रम के रूप में अब भी मनाते हैं। लगभग १०० वर्षों तक ख़लीफ़ा का पद मुहम्मद साहब के उन वंशधरों के हाथ में रहा जो उम्मेदी कहलाते हैं। डिमासकस उनकी राजधानी थी और ख़लीफ़ा लोग भी धीरे-धीरे अन्य राजाओं की तरह अनियन्त्रित सम्राट् बन बैठे। बहुत दिनों तक प्रगतिशील रहकर अपना ऐतिहासिक रोल खेलकर, इस्लामी शासक भी प्रतिक्रियावादी बन गये। उन पर पारसी और रोमन साम्राज्यों की सभ्यता का प्रभाव पड़ा और उनकी बहुत-सी बुराइयाँ उन्होंने सीख लीं। परदा की प्रथा, जो अरब की स्त्रियों में कभी नहीं थी, वह पैदा हो गई। धन और साम्राज्य कीवृद्धि के साथ विलासिता भी सम्राटों की नस-नस में घुस गई। उम्मेदी वंश के राज्यकाल में अरब लोग इस्लाम की सभ्यता को दूर-दूर तक ले गये। उक्त राजवंश को हज़रत मुहम्मद के चचा अब्बास साहब के वंशधरों ने अन्त में उखाड़ फेंका और स्वयं उन्होंने राज्य पर अधिकार कर लिया। इनके वंशधर अब्बासी कहलाये। यह ७५० ई० की बात है। यद्यपि अब्बासी परिवार का शासन बहुत अच्छा नहीं था फिर भी अरबों के इतिहास का वह एक उज्ज्वल पृष्ठ है। बाद में कलहों ने अरबों का गृह-जीवन नष्ट कर दिया। अब्बासी राजवंश ने देश में तो शान्ति की स्थापना की, किन्तु सुदूर साम्राज्य के उम्मेदी गवर्नर विद्रोह कर उठे, उत्तरी अफ़रीका स्वतन्त्र हो गया तथा मिस्र भी साम्राज्य से टूट गया। इस तरह अरब साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े होकर नष्ट हो गया और ख़लीफ़ा समूचे मुस्लिम संसार का भाग्य-विधाता न रह गया।

अब्बासी सम्राट् डेमासकस से अपनी राजधानी हटाकर ईराक़

देश के बग़दाद नामक नगर में ले गये, जो फ़ारस के राजाओं की ग्रीष्म-कालीन राजधानी थी। इसके बाद अब्बासी सम्राटों ने योरप की ओर से अपना ध्यान हटा लिया और साम्राज्य-विस्तार के लिए एशिया की ओर रुख़ किया। उन्होंने क़ुस्तुनतुनिया को जीतने की कई कोशिशें कीं। अपने बचाव के लिए कई बार योरपियनों से भी उन्हें लड़ाई लड़ना पड़ी। इसके अतिरिक्त उनका आन्तरिक शासन भी बेसिलसिला और बेतरतीब हो गया था, फिर भी उक्त काल में अस्पताल, डाकख़ाने और व्यावसायिक केन्द्रों की ख़ूब वृद्धि हो रही थी। बग़दाद एक अत्यन्त उन्नत नगर हो रहा था, और ख़लीफ़ा स्वयं गुलामों और वेश्याओं से घिरा हुआ विलासिता का जीवन व्यतीत करने लग गया था। कहा जाता है कि ख़लीफ़ा हारूँ रशीद (७८६ से ८०९ ई० तक) के राज्यकाल में अब्बासी साम्राज्य अपनी उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा हुआ था। उसके दरबार में संसार के बड़े बड़े राजाओं के राजदूत रहते थे। अब्बासी सम्राटों ने कला और विज्ञान को भी काफ़ी उन्नत करने की चेष्टा की थी।

हारूँ रशीद की मृत्यु के बाद अरब साम्राज्य पर विपत्ति के बादल टूट पड़े। अव्यवस्था का दौर-दौरा-सा हो गया और साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गये। प्रान्तीय शासक ख़ानदानी राजा बन बैठे, ख़लीफ़ा अधिकाधिक शक्तिहीन होते गये और एक दिन ऐसा आया जब ख़लीफ़ों का शासन-क्षेत्र रह गया केवल बग़दाद नगर और थोड़े से निकटवर्ती स्थान। इस बीच में मध्य-एशिया के तुर्क मुसलमान हो चुके थे और उन्होंने आकर पतनोन्मुख बग़दाद के शासन पर आधिपत्य जमा लिया। इतिहास में ये लोग सेल्जुक तुर्क के नाम से प्रसिद्ध हैं।

बग़दाद का नगर आज फिर एक उन्नतिशील नगर बन गया है और ईराक़ की राजधानी है, यद्यपि उसकी महत्ता के प्राचीन दिन अभी भी सदियों दूर दिखाई देते हैं।

हर्ष और चालुक्य राजा

छठी शताब्दी भारत के इतिहास में एक उलट-पुलट का समय था। गुप्त-साम्राज्य के अन्त होने के बाद मगध और बंगाल पर गुप्त-वंश की

एक शाखा राज्य करने लगी थी, जिसका अधिकार कुछ समय के लिए मालवा पर भी हो गया था। इन गुप्तों के समकक्ष दक्षिण पांचाल की राजधानी कन्नौज में मौखरि नाम का एक नया राजवंश उठ आया। पहली बार इतिहास में मौखरि लोगों ने हूणों से युद्ध करके प्रसिद्धि पाई थी। पश्चिमी भारत में गुर्जर जाति अकस्मात् प्रबल हो उठी थी। पंजाब में गुजरात और गुजरानवाला ज़िले आज भी गुर्जर-राज्य के स्मारकस्वरूप वर्तमान हैं। मारवाड़ के भिन्न माल नामक स्थान में उनकी विशाल राजधानी थी। काठियावाड में माइट्रक के राज्यवंश की स्थापना द्रौणसिंह ने की थी। दक्षिण का भी राजनैतिक नक़शा पलटा। वहाँ चालुक्यों का एक नया राज्य (५५० से ६०८ ई० तक) उठ खड़ा हुआ। उसके संस्थापक थे पुलकेशी जिन्होंने वातापी नगरी (बीजापुर ज़िले में बदामी) को जीतकर अश्वमेध यज्ञ किया था। चालुक्यों के राज्य के दक्षिण ओर पल्लवों का राज्य था। वह भी छठी शताब्दी में खूब चमक उठा। उसके एक राजा सिंहविष्णु ने लगभग ७९० ई० में लंका को भी जीत लिया था।

थानेश्वर का प्रभाकरवर्धन शायद महासेन गुप्त का भानजा था। उसने हूणों से मोर्चा लिया और सिन्ध, गुर्जर तथा गान्धार के राज्यों पर अपना आधिपत्य जमाया। उसने मालवा को भी जीत लिया था। इस प्रभाकरवर्धन के तीन सन्तानें हुई। राजवर्धन, हर्षवर्धन तथा राज्यश्री। युवावस्था प्राप्त करने पर राज्यश्री की शादी मौखरि राजा के बेटे ग्रहवर्मा से हुई थी।

राजवर्धन हूणों से मोर्चा लेने पश्चिम की ओर गया, किन्तु शीघ्र ही वहाँ से पिता की बीमारी का समाचार सुनकर उसे वापस आ जाना पड़ा। अन्ततः ६०५ ई० में प्रभाकरवर्धन की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु का समाचार सुनकर शीघ्र ही मालवा के राजा ने कन्नौज पर चढ़ाई कर दी और ग्रहवर्मा को मारकर राज्यश्री को बन्दी बना लिया। राजवर्धन ने १० हज़ार सवारों के साथ उसका मुक़ाबिला किया पर वह पराजित हो गया। नौजवान हर्ष इस प्रबल शत्रु की वृद्धि अधिक न सह सका। वह तेज़ी से उसका सामना करने को आगे बढ़ा। कन्नौज के समीप पहुँचने

पर हर्ष को सेनापति मिला जिसने समाचार दिया कि राज्यश्री बन्धन से तो छूट गई है पर निराश होकर विन्ध्याचल के जंगलों में भाग गई है। सेनापति को फ़ौज का भार सौंपकर हर्ष बहन की खोज में निकला और उसे ठीक उस समय पाया जब वह सती होने जा रही थी। हर्ष के बहुत समझाने पर उसने वापस आना इस शर्त पर स्वीकार किया कि हर्ष जब तक शत्रु से बदला न चुका लेगा तब तक वे दोनों राज्य का संयुक्त रूप से भार सम्हालेंगे। इसका विवरण महाकवि बाण भट्ट के हर्ष-चरित्र नामक ग्रन्थ में मिलता है।

हर्षवर्धन के राज्य-काल में हुवान चांग अथवा ह्वेनसांग नामक एक चीनी यात्री अफ़ग़ानिस्तान के रास्ते से भारत आया और ६९३ ईसवी में उसी राह से वापस गया। वह भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूमा और हर्ष के दरबार में भी कुछ वर्षों तक रहा था। उसके लिखे हुए विवरण से भी बहुत-सी तत्कालीन बातें मालूम होती हैं। राज्यश्री ने लौट-कर राज्य का भार अपने ऊपर लिया और हर्ष उसके प्रतिनिधि के रूप में 'शीलादित्य' नाम ग्रहण करके शासन की देख-रेख करने लगा। उसने एक विशाल सेना तैयार की तथा भारत के दिग्विजय को निकला। ६ वर्षों में ही पूर्व से पश्चिम तक सारे देश को परास्त कर डालने में उसे अद्भुत सफलता मिली। किन्तु महाराष्ट्र के चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय पर जब उसने चढ़ाई की तब मुँह की खानी पड़ी और अपनी सारी ताक़त लगाकर भी वह नर्मदा नहीं पार कर सका। इस तरह चालुक्यों और हर्षों के साम्राज्य में नर्मदा नदी एक सीमा-रेखा बन गई।

हर्ष जितना बड़ा प्रबल सेनापति था उतना ही योग्य शासक भी था। यद्यपि गुप्तों के राज्य जैसा सुख और समृद्धि तो तब नहीं थी फिर भी साधारणतया प्रजा सुखी थी। ६०६ ई० में हर्ष ने अपना अभिषेक किया और अपने नाम से एक संवत् चलाया। ६४७ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

हर्षवर्धन को कोई पुत्र नहीं था इसलिए उत्तराधिकार के लिए प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हो गई। इसी बीच गुप्तवंश के एक नगण्य व्यक्ति

आदित्यसेन ने मगध पर अधिकार करके अपनेको समूचे उत्तर भारत का सम्राट् घोषित कर दिया, किन्तु उसका राज्य उसकी व्यक्तिगत योग्यता और कार्य-कुशलता के बावजूद भी चिरस्थायी न हो सका।

हर्ष का समकालीन चालुक्य राजा सत्याश्रय पुलकेशी (६०८ से ६४२ ई० तक) बहुत प्रसिद्ध है। उसने गुजरात, कोशल और आन्ध्र को जीतकर अपना साम्राज्य खूब बढ़ा लिया था। कहते हैं कि उसकी सामुद्रिक शक्ति भी बहुत प्रबल थी और ईरान के राजा ने सन् ६२५-२६ में उसके दरबार में अपना राजदूत भेजा था। पुलकेशी ने पल्लव राजा महेन्द्र वर्मा को भी पराजित किया था, जिसका बदला महेन्द्र वर्मा के बेटे नरसिंह वर्मा ने पुलकेशी द्वितीय को उसके अन्तिम दिनों में हराकर ले लिया था।

महेन्द्र वर्मा प्रथम (६१८ ई० से) और नरसिंह वर्मा (६४६ ई०) दोनों वीर और सुरुचिसम्पन्न राजा थे। आज भी पटुकोटय राज्य में सित्तनवासल नामक स्थान की गुफाओं में अंकित जो चित्र मिलते हैं, और जो अजंता के चित्रांकण की तरह ही सुन्दर हैं, वे इन्ही राजाओं के बनवाये हुए कहे जाते हैं।

चालुक्य-वंश में अन्तिम प्रतापशाली राजा हुआ विक्रमादित्य प्रथम का बेटा विनयादित्य (६८० से ६९६ तक)। उसने लंका से लेकर सुदूर उत्तर-भारत तक को विजय किया था।

सातवीं शताब्दी में, संसार में एक और नया साम्राज्य उठ खड़ा हुआ, और यह राज्य था तिब्बत का। इसके पहले तिब्बती लोग जंगली थे और छोटी-छोटी टुकड़ियों में रहते थे। धीरे-धीरे चीन और भारत से वहाँ सभ्यता का प्रकाश पहुँचा। उत्तरी भारत में प्रचलित लिपि भी वहाँ पहुँची और आज तक वहाँ वही वर्णमाला प्रचलित है। पहले-पहल सन् ६३० ई० में एक सम्राट् ने सारे तिब्बत को एक शासन-सूत्र में बाँधा और ६५० ई० तक राज्य किया। उसका नाम था स्त्रोङ-चंग-गम्बो और उसी ने ल्हासा नगर की भी स्थापना की थी। उसने नेपाल के राजा की बेटी और चीन सम्राट् की एक कन्या से विवाह किया था। कहते हैं कि उक्त दोनों देवियाँ बौद्ध-धर्मावलम्बिनी थीं और उन्होंने तिब्बत के सामाजिक जीवन में अनेक सुधार करवाये। उन्हीं दिनों ६४१ ई० में हर्षवर्धन ने

अपना दूत चीन भेजा था, जो तिब्बत के रास्ते से ही गया था। इस प्रकार पहली बार चीन और भारत के बीच तिब्बत के रास्ते से आना-जाना प्रारम्भ हुआ।

इन्डोचाइना और कम्बोडिया

भारत का दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी भाग विशाल समुद्रतट से घिरा हुआ है, और कन्या-कुमारी के पास वह एक समुद्री देश का ही दृश्य उपस्थित करता है। भारत का व्यापार अति प्राचीन काल से ही विदेशों के साथ रहा है, इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि दक्षिण-भारतवालों ने व्यापार और व्यापारिक मंडियों की तलाश में जहाज़ तैयार करके समुद्र लाँघे हों। चन्द्रगुप्त मौर्य के महामात्य कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में जहाज़ों का वर्णन किया है, और चन्द्रगुप्त के दरबार में आये हुए ग्रीक राज-दूत मेगास्थनीज़ ने भी इसकी चर्चा की है। चूँकि दक्षिण का ही समुद्र से विशेष सम्बन्ध है, अतएव समुद्री व्यापार का भी अधिकांश भाग दक्षिणियों के ही हाथ में रहा है। दूसरी और तीसरी शताब्दी के आन्ध्रदेशीय सिक्कों पर दो मस्तूल के जहाज़ों के छाप पाये जाते हैं, जिससे भी सिद्ध होता है कि दक्षिणवाले जहाज़ बनाना जानते थे और समुद्री व्यापार में पटु थे। इसलिए दक्षिणियों को ही समुद्री दुस्साहसों के कार्य करने का श्रेय प्राप्त है; जिसके फलस्वरूप पूर्वीय द्वीपों में भारतीय उपनिवेश बसे थे। ईसा की प्रथम शताब्दी से शुरू होकर,४०० वर्षों तक यह उपनिवेशीकरण चलता रहा। मलक्का, जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया और बोर्नियो सभी जगह दक्षिणी लोग अपने साथ भारतीय संस्कृति और कला ले गये। बरमा, स्याम और इन्डोचाइना में भी विशाल भारतीय उपनिवेश गढ़ उठे थे। ये उपनिवेश हिन्दू-उपनिवेश थे और इनका नाम दक्षिणी भारत के स्थानों के ढंग पर था। कुछ शताब्दी बाद वहां बौद्धधर्म का प्रसार हुआ और सारा हिन्दू मलयेशिया बौद्ध बन गया।

इन्डोचीन का प्राचीनतम उपनिवेश था अन्नाम, जिसका पुराना नाम था चम्पा। वहाँ तीसरी शताब्दी में पाण्डरङ्गम नामक एक वैभवमय नगर उठ खड़ा हुआ। २०० वर्षों बाद कम्बोज में भी महान् नगर पैदा

हुए। ये नगर बड़ी-बड़ी इमारतों और मंदिरों से भरे हुए होते थे जो भारतीय उपनिवेशों की प्रमुख विशेषता रही है। मलयेशिया के निवासी अधिकांशत: व्यापारी और यात्री थे। उनका राज्य भी सम्पन्न व्यवसायियों के नियन्त्रण में था। अकसर उनके छोटे-छोटे राज्यों में लड़ाइयाँ और खून-खराबी होती रहती थी। कुछ दिनों बाद जब बौद्ध-धर्म प्रबल हो उठा तब इन लड़ाइयों का रूप धार्मिक हो गया। कभी-कोई बौद्ध राज्य हिन्दू-राज्य पर आक्रमण करता तो कभी कोई हिन्दू-राज्य बौद्ध-राज्य पर। किन्तु इन लड़ाइयों की तह में आज ही की तरह बाज़ारों पर अधिकार करने की होड़ अधिकांश रहती थी। आठवीं शताब्दी तक इन्डोचीन में तीन बड़े हिन्दू-राज्य थे। किन्तु नवीं शताब्दी में जैवर्मन नामक एक महत्त्वाकांक्षी शासक पैदा हुआ जिसने उन सभी राज्यों को मिलाकर एक महान् साम्राज्य स्थापित किया। इसे कम्बोडियन साम्राज्य कहते हैं। यह साम्राज्य ४०० वर्ष तक क़ायम रहा। १३ वीं शताब्दी में कम्बोडिया पर कई तरफ़ से आक्रमण हुए और बहुत दिनों तक निरन्तर लड़ते रहने के फलस्वरूप राज्य कमज़ोर हो गया। इसी बीच एक भयंकर प्राकृतिक विपत्ति भी कम्बोडिया के पतन में सहायक हुई। १३०० ई० के लगभग राजधानी अंगोर के पास मैकांग नदी के मुहाने पर इतनी मिट्टी जम गई कि नदी का बहना दुष्कर हो गया, जिससे समूचे निकटवर्त्ती प्रदेशों में भयंकर बाढ़ आगई और समस्त उपजाऊ भूमि दलदल में परिणत हो गई। अंगोर का शानदार नगर उजड़ गया और वहाँ जंगल उग आये। अन्तत: कम्बोडिया का राज्य नष्ट हो गया और बाद को कभी स्याम और कभी अन्नाम का प्रान्त बनकर जीवित रहने लगा।

इन्डोचीन के पास ही सुमात्रा का भी द्वीप है जहाँ पहली या दूसरी शताब्दी में दक्षिण के पल्लव राजाओं ने अपना उपनिवेश स्थापित किया था। मलाया प्रायद्वीप प्रारम्भ से ही सुमात्रा का भाग बन गया और बहुत दिनों तक इन दोनों देशों के भाग्य एक साथ बँधे रहे। इसकी राजधानी थी श्रीविजय नामक विशाल नगर में, जो सुमात्रा की पहाड़ियों में स्थित था। पाँचवीं या छठी शताब्दी में वहाँ बौद्ध-धर्म पहुँचा तथा सुमात्रा ने परवर्त्ती काल में बौद्ध-धर्म के प्रचार में अग्रणी-भाग लिया।

सुमात्रा का राज्य आगे चलकर इतना विस्तृत हो गया कि एक समय उसके भीतर मलाया, बोर्नियो, फिलीपाइन्स, सेलेबीज़, जावा का आधा भाग, फारमोसा का आधा भाग (जो आज जापान के अधिकार में है) लंका और कैन्टन के समीपस्थ कई चीनी बन्दरगाह भी उसके शासन के अन्तर्गत आ गये। सम्भवत: लंका के सामने भारत के सुदूर दक्षिण का कुछ भाग भी सुमात्रा के राज्य में शामिल हो गया था। सिंगापुर भी, जो आज एक ज़बरदस्त सैनिक अड्डा है और विशाल नगर है, सुमात्रा का ही एक उपनिवेश था। उक्त साम्राज्य के वैभव का सर्वत: विकसित काल था ११वीं शताब्दी, जब दक्षिण-भारत में चोला-साम्राज्य उन्नति के मार्ग पर बढ़ा चला जा रहा था। सन् १३७७ ई० में जावा के पल्लव उपनिवेश-द्वारा श्रीविजय अथवा सुमात्रा के साम्राज्य का अन्त हो गया।

१२वीं शताब्दी के बाद जावा का राज्य धीरे-धीरे बढ़ने लगा था और, जैसा कि कह चुके हैं, उसी ने १३७७ ई० में श्रीविजय को परास्त किया। इस लड़ाई में बड़ी खून-खराबी और बरबादियाँ हुई। श्रीविजय और सिंगापुर के नगर बरबाद हो गये, और सुमात्रा के साम्राज्य के ध्वंसावशेषों पर पैदा हुआ मज्जावहिक साम्राज्य। यद्यपि जावा के हिन्दू-उपनिवेशों ने सुमात्रा के साथ युद्ध करने में घोर जंगलीपन का परिचय दिया था, फिर भी यह निसंदिग्ध है कि उनकी सभ्यता काफ़ी उन्नत और बढ़ी-चढ़ी थी। जावावाले स्थापत्य-कला में अद्वितीय थे विशेषकर मंदिर-निर्माण की कला में। वहाँ ५०० से ऊपर मन्दिर थे और उन्हें बनाने के लिए ६५० ई० से ९५० ई० के बीच में १०० कुशल कारीगर भारत तथा चीन आदि देशों से ले जाये गये थे।

नवाँ प्रकरण

होली-रोमन-साम्राज्य और क्रूसेड्स

रोम के पतन के बाद बहुत दिनों तक अव्यवस्था एवं अशान्ति का केन्द्र रह चुकने के बाद पश्चिमीय देश धीरे-धीरे व्यवस्थित होने लगे। ईसाइयत फैल रही थी और उसी के साथ-साथ नये राज्य संगठित हो रहे थे। फ़्रांस, बेल्जियम और जर्मनी के कुछ हिस्सों में क्लोविस नामक (सन् ४८१ से ५११ तक) एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति के नेतृत्व में फ़्रैंक लोगों ने अपना राज्य स्थापित किया, किन्तु उसके वंशधर बहुत दिनों तक राज्य न कर सके और उन्हीं के एक राजकर्मचारी ने राज्य पर अधिकार कर लिया। वह 'पैलेस का एक मेयर था'। धीरे-धीरे मेयर का पद खानदानी पद बन गया और 'मेयर' लोग सर्वशक्तिमान् हो उठे।

इन्हीं मेयरों में से एक, चार्ल्स मार्टेल, ने जिसका वर्णन हम कर चुके हैं, टावर्स के मैदान में ७३२ ई० में अरबों को परास्त किया था। पश्चिम की ओर बढ़ती हुई इस्लामी शक्तियों को परास्त करने के फलस्वरूप वह ईसाई संसार की दृष्टि में योरप का त्राता बन गया, और उसकी प्रसिद्धि तथा प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गये। उस समय रोम के मठाधीश अथवा पोप और कुस्तुनतुनिया के सम्राटों में अनबन थी, अतएव पोप लोग चार्ल्स मार्टेल से अपनी सहायता की आशा करने लगे। मार्टल का पुत्र पेपिन जब 'मेयर' हुआ तो उसने अपने को राजा घोषित करके कठपुतली राजवंश का अन्त कर देने का निश्चय किया और पोप बड़ी ख़ुशी से इस प्रस्ताव पर राज़ी हो गया। पेपिन के बाद उसका पुत्र चार्ल मैग्ने शासक हुआ। उसके काल में भी पोपों के ऊपर कई बार विपत्तियाँ आईं और पोप ने सहायता की प्रार्थना की। चार्ल्स तुरन्त दौड़ पड़ा और ८०० ई० में ठीक क्रिसमस के दिन शत्रु को मार भगाया। बदले में प्रसन्न होकर पोप ने चार्ल मैग्ने को रोमन सम्राट् के पद पर

प्रतिष्ठित किया। यह नवीन और अल्पकालीन साम्राज्य 'होली-रोमन-साम्राज्य' कहलाया। कुस्तुनतुनिया के सम्राट्-वंश को यद्यपि यह नवोत्थित साम्राज्य एकदम अमान्य था, पर चार्ल्स के अभिषेक के समय एक रमणी वहाँ रानी थी, जो अत्यन्त कुटिल और अयोग्य थी तथा कुस्तुनतुनिया का राज्य भी डाँवाडोल था। पोप को इन परिस्थितियों से प्रोत्साहन मिला।

यह समझना भूल होगी कि 'होली-रोमन-साम्राज्य' प्राचीन पश्चिमी रोमन-साम्राज्य के क्रम में अथवा उससे सम्बन्धित था। वह बिल्कुल ही भिन्न चीज़ थी। नये सम्राट् और पोप में बाद को प्रभुत्व के लिए रस्साकशी होने लगी। होली-रोमन-साम्राज्य के द्वारा इतिहास में एक नई विचार-धारा पैदा हुई। पृथ्वीतल पर ईश्वर के प्रतिनिधि होने की धारणा तभी से राजाओं के मन में आई। समझा जाने लगा कि जिस प्रकार पोप को ईश्वर ने आध्यात्मिक साम्राज्य का एकाधिकारी बनाकर भेजा है, उसी प्रकार राजा को संसार के राजनैतिक अधिकारों का कर्ता-धर्ता और नियन्ता बनाकर भेजा है। पंडित जवाहरलाल नेहरू का अनुमान है कि आगे चलकर योरपीय इतिहास में राजाओं में 'ईश्वरीय अधिकार' (Divine Right) की बात इसी धारणा से पैदा हुई होगी। आज भी इँग्लैंड का राजा धर्म का रक्षक (Defender of the Faith) कहलाता है।

चार्लेमैग्ने बगदाद के हारूँरशीद का समकालीन था। उसके साम्राज्य में फ़ांस, बेल्जियम, हालैंड, स्विट्ज़रलैंड, आधा जर्मनी और आधा इटैली शामिल था। दक्षिण-पश्चिम की ओर स्पेन में अरबों का शासन था। चार्लेमैग्ने ८१४ ई० में मर गया। उसकी मृत्यु के बाद ही राज्य पर अधिकार करने के लिए झगड़ा उठ खड़ा हुआ। चार्ल्स के वंश में कोई योग्य अथवा उल्लेखनीय व्यक्ति नहीं था जो साम्राज्य को सम्हाल सकता।

और जब चार्लेमैग्ने का साम्राज्य बिखर पड़ा तब आधुनिक जर्मनी और फ़ांस आदि देशों का संगठन प्रारम्भ हुआ। एक राष्ट्र के रूप में जर्मनी का प्रारम्भ ८४३ ई० में समझा जाता है और बहुत हद तक जर्मनों

को एक जाति और एक संगठित इकाई बनाने का श्रेय सम्राट् ओट्टो महान् (९६२ से ९७३ ई०) को प्राप्त है। इसी तरह फ़ांस हफ़-कापेत नामक एक व्यक्ति के प्रयत्न से ९८७ ई० में एक राष्ट्र बन गया। रूस भी सी समय इतिहास में प्रवेश करता है। कहा जाता है कि रूरिक नामक एक व्यक्ति ने ८३० ई० में, रूस के राज्य की नींव डाली। उधर दक्षिण-पूर्व योरप में बलगेरियन लोग आबाद हो रहे थे। हंगरी और पोलैंड की नींव भी पड़ रही थी और इस तरह योरप के आधुनिक राज्य बनते जा रहे थे।

इसी समय उत्तरी योरप से जहाज़ों में भर भरकर लोग पश्चिमी और दक्षिणी देशों में आते थे और लूट-मार किया करते थे। ये लुटेरे इतिहास में नार्मन नाम से प्रसिद्ध हुए। ये लोग भूमध्य सागर तक जहाज़-रानी करते थे और जहाँ कहीं भी जाते थे खूब लूट-पाट मचाते थे। फलस्वरूप इटैली और रोम की अत्यन्त ही दयनीय दशा हो गई, कुस्तुन-तुनिया भी संत्रस्त हो उठा। इन लुटेरों और डकैतों ने धीरे-धीरे पश्चिमी फ़ांस, दक्षिणी इटैली तथा सिसली आदि को अपने अधिकार में कर लिया और वहीं आबाद होकर भूपति और नवाब बन बैठे। ये ही नार्मन लोग १०६६ ई० में इँग्लैंड गये और विजेता विलियम (William the Conquerer) के अधिनायकत्व में वहाँ अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस तरह इँग्लैंड का भी आधुनिक स्वरूप बनना शुरू हो गया।

हम बतला चुके हैं कि जब मुसलमानों का यरोशलम पर अधिकार हो गया तब पोप ने उक्त धार्मिक नगर को मुसलमानों के हाथ से निकालने के लिए फिर हमला करने की एक योजना बनाई थी। क्रमश: ईसाई तीर्थ-यात्रियों के साथ होनेवाले दुर्व्यवहारों की कहानियों से जनता भी अधिका-धिक उत्तेजित होती जा रही थी। इसके अतिरिक्त सेल्जुक तुर्कों के प्रताप से सारा योरप प्रकम्पित हो रहा था, विशेषकर कुस्तुनतुनिया की सरकार तो अत्यन्त ही त्रस्त हो उठी थी। फलस्वरूप एक धर्मयुद्ध (Holy War) की घोषणा कर दी गई और पोप तथा चर्च ने समूचे ईसाई-संसार का आह्वान किया यरोशलम के पवित्र नगर का पुनरुद्धार करने के लिए। इस धर्मयुद्ध के अभियानों को क्रूसेड्स कहते हैं।

१०९५ ई० से प्रारम्भ होकर ईसाइयत और इस्लाम का यह संघर्ष

१५० वर्षों से भी अधिक दिनों तक चलता रहा। यद्यपि बीच-बीच में ये युद्ध रुक भी जाते थे पर युद्ध-काल की तत्परता (Preparedness) और तनाव (Tension) उक्त समूची अवधि में एक-सा बना रहा और शत-शत ईसाई पवित्र भूमि में जीवन समर्पित करने लगातार आते रहे। यह एक कटु सत्य है कि इन युद्धों से ईसाइयों को कोई भी लाभ नहीं हुआ, यद्यपि कुछ दिनों के लिए यरोशलम उनके हाथ में अवश्य ही आ गया था। सच बात तो यह है कि इस युद्ध का एक ही परिणाम हुआ और वह यह था कि कोटि-कोटि ईसाई धर्म के नाम पर मौत के घाट उतरे, लाखों मुसलमान बर्बाद और तबाह हुए और एशिया माइनर तथा फ़िलिस्तीन का विशाल भूभाग मानव-रक्त से आप्लावित हो उठा। बग़दाद में अब्बासी वंश तब भी ख़लीफ़ा के पद पर आसीन था, किन्तु उसका अधिकार नाममात्र को ही रह गया था। वास्तविक अधिकार तो तुर्कों के हाथ में था जिन्होंने राजनैतिक शक्तियों को अपने हाथ में लेकर ख़लीफ़ा को केवल धर्माचार्य के पद पर छोड़ दिया था। ईसाई धर्मान्धों को क्रूसेड्स के सिलसिले में इन्हीं सेल्जुक राजाओं और उनकी सेना से लड़ना पड़ा था।

ईसाइयत और ग़ैर ईसाइयत के प्रश्न के अतिरिक्त इस कथित धर्म-युद्धों का एक व्यावसायिक कारण भी था। सेल्जुक तुर्कों ने पूर्व के बहुत-से व्यापारिक मार्ग बन्द कर दिये थे, जिसके कारण वेनिस तथा जिनेवा के उठते हुए बन्दरगाह बेहद हानि उठा रहे थे। अतएव वे स्वभावतः चाहते थे कि सेल्जुक तुर्कों की शक्ति किसी तरह टूट जाय और उस धर्मान्धता के तूफ़ान से लाभ उठाने में उन्होंने कुछ भी उठा नहीं रक्खा।

अन्त में गॉडफ्रे आफ़ बुइयन नामक एक नार्मन के नेतृत्व में ईसाई आक्रमणकारी एक बार यरोशलम तक पहुँच गये और कुछ समय के लिए उक्त नगर उनके अधिकार में आ गया। अधिकृत होने पर वहाँ एक भयंकर रक्त-पात का दृश्य उपस्थित हो गया था। ७० वर्षों बाद फिर मिस्र के सुलतान सलादीन ने यरोशलम को ईसाइयों से छीन लिया। फलस्वरूप योरप फिर उत्तेजित हो उठा और फिर कई क्रूसेड्स हुए। इस बार योरप के राजा और सम्राट् लोग भी इन आक्रमणों में शामिल

हुए, पर कोई फल न निकला। इस प्रकार इन धर्म-युद्धों का कोई भी नतीजा यदि निकला तो इतना ही कि लगातार युद्ध-रत रहने से सेल्जुक तुर्कों की शक्ति टूट गई। उधर के अरब सुल्तान सलादीन की भी मृत्यु ११९३ ई० में हो गई और इस प्रकार अरब-साम्राज्य का अवशेष वैभव भी काल के गह्वर में विलीन हो गया। अन्तिम क्रूसेड १२४९ ई० में हुआ था और उसका नेतृत्व किया था फ्रांस के राजा लुई नवम ने, पर वह परास्त होकर बन्दी हो गया था।

एक तरफ़ जिस समय ऐसी अव्यवस्था और खून-खच्चर का दौर-दौरा था उस समय मध्य एशिया में बड़ी-बड़ी घटनायें घट रही थी। मंगोलों की शक्ति चंगेज़ खाँ के नेतृत्व में तूफ़ान की तरह बढ़ रही थी, जो ईसाई और मुसलमान दोनों को समान रूप से संत्रस्त कर रही थीं।

सामन्त-प्रथा

ईसाई-मत और इस्लाम की समता, भ्रातृत्व आदि की स्पष्ट धारणाओं के बावजूद भी जनता का दैनिक जीवन दुःखद ही बना रहा। रोम के पतन के बाद जो अव्यवस्था, कुशासन और हत्याकाण्ड योरप में मचा हुआ था उससे जनता परेशान आ गई थी। बलवान् लोग जो कुछ भी पाते थे उस पर अधिकार कर लेते थे। कुछ भूमि पर अधिकार कर लेने के बाद मज़बूत किले बनवा लेते थे और आक्रमणकारियों तथा लुटेरों का एक दल लेकर निकटवर्ती भूभाग में लूट-खसोट मचाते फिरते थे। वे लोग प्रायः अपने समान गढ़ाधीशों से भी लड़ा करते थे। समें किसान और खेतिहर मजदूरों को भयंकर हानियाँ उठानी पड़ती थीं। ऐसी ही अव्यवस्था के गर्भ से सामन्तशाही का जन्म हुआ।

किसान अरक्षित थे, वे इन लुटेरे सरदारों से अपनी रक्षा कर सकने में असमर्थ थे। उस समय कोई केन्द्रीय शक्ति भी उनकी रक्षा करने के लिए न थी। अतः उन्होंने विवश होकर अपना विनाश करनेवाले गढ़ाधीशों से सन्धि कर ली। इस प्रकार वे अपनी उपज का एक बड़ा भाग देते रहने तथा अन्य ढंगों से गढ़ाधीशों की सेवा करते रहने का वचन देने को बाध्य हुए ताकि उनका विपन्न दैनिक जीवन किसी तरह रोज़-रोज़

की तबाहियों से बच जाय। इसी तरह छोटे गढ़ाधीशों ने भी बड़े गढ़ाधीशों से सन्धियाँ कीं। अन्तर केवल इतना ही था कि छोटे गढ़ाधीश चूँकि स्वयं उत्पादक नहीं थे अतएव उपज का भाग न देकर अवसर पड़ने पर सेनाओं-द्वारा बड़े गढ़ाधीशों की सेवा करने का उन्होंने वचन दिया। इस तरह एक एक करके राजा और नवाब पैदा हुए और कालान्तर में सामन्तशाही के ढाँचे में से भी सम्राट्-तंत्र पैदा होगया। चर्चों के अधिकारी भी सामन्त-प्रथा के अंग बने। वे धर्माचार्य और फ़िउडल सरदार दोनों ही होने लगे। जर्मनी का तो लगभग आधा भाग और आधी सम्पत्ति धर्म-गुरुओं के ही हाथ में थी। पोप स्वयं एक बड़े भूभाग और सम्पत्ति का स्वामी था। सामन्तशाही का सारा ढाँचा स्पष्ट श्रेणी आधारों पर बना था। नीचे थे गुलाम (Serfs) जिन्हें समाज का सारा बोझ वहन करना होता था। छोटे सरदारों से लेकर बड़े सरदारों और राजाओं तक की नाज़बरदारी उन्हें करनी पड़ती थी। उत्पादन के समूचे कार्य उन्हीं के ज़िम्मे थे, क्योंकि सरदारों के लिए परिश्रम करना हीन कार्य समझा जाता था। लड़ना, और जब लड़ाई न हो तो शिकार करना, लड़ाइयों के स्वाँग देखना और खेल-कूद आदि ही उनके एकमात्र काम थे। प्रारम्भ में वे उजड्ड और अशिक्षित होते थे, जिनकी दृष्टि में खाना-पीना और मौज करना इन कामों के अलावा और सभी काम असम्मानित काम थे। इस तरह भोजन-पदार्थों से लेकर जीवन की छोटी-बड़ी सभी आवश्यक चीज़ों की पूर्ति का सामान पैदा करने का भार तुच्छ कहलानेवाले किसानों और कारीगरों पर ही था। और इस समूचे ढाँचे के ऊपर होता था राजा, जो ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था। सरदार लोगों की इच्छायें ही क़ानून थीं, राजा तो शायद ही कभी उनके कामों में हस्तक्षेप करते थे। वे गुलामों से अधिक से अधिक काम लेते थे और उनके पास उनके उत्पादन में से, मुश्किल से जी सकने भर के लिए थोड़ा छोड़ देते थे।

इस तरह क्रमशः पिसती हुई मानवता को आगे चलकर एक नई शक्ति के पैदा होने से थोड़ी स्वतंत्रता का आभास मिला। सरदारों और गुलामों के अतिरिक्त एक और श्रेणी पैदा हुई कारीगरों और चतुर

व्यापारियों की। पहले अवस्था अव्यवस्थित और असंगठित थी इसी से शिल्प-व्यवसाय आदि की उन्नति नहीं हो सकी। पर धीरे-धीरे सामन्तशाही ने एक अल्पकालीन व्यवस्था की नींव डाली तब स्वभावतः व्यापार बढ़ा और कुशल शिल्पियों तथा व्यापारियों का महत्त्व भी बढ़ा। क्रमशः वे धन-सम्पन्न बने तथा सरदार और सामन्त उनके पास ऋण लेने के लिए जाने लगे। उन्होंने ऋण देना प्रारम्भ किया लेकिन इस शर्त पर कि उन्हें कुछ विशेष सुविधायें प्रदान की जायँ। उन सुविधाओं ने उनकी शक्ति और भी बढ़ा दी और इस तरह सरदारों और सामन्तों के गढ़ों के चारों ओर गुलामों की झोपड़ियों के स्थान पर छोटे-छोटे क़स्बे और छोटे-छोटे पक्के मकानात उठ खड़े हुए। इन शिल्पियों और व्यापारियों ने अपनी सभायें और संगठन खड़े किये और धीरे-धीरे वे नये क़स्बों के अधिपति भी बन बैठे। अन्त में एक समय आया जब वे सरदारों की शक्तियों को भी चुनौती देने लगे। यह था पूँजीवादी सभ्यता का नवबिहान, जब कि प्रतिगामी सामन्तप्रथा से उसका संघर्ष प्रारम्भ हुआ।

मंगोलों का अभ्युत्थान

संसार के इतिहास के अब तक के सिंहावलोकन में पाठकों ने देखा होगा कि संसार की गति-विधि को नवजीवन प्रदान करने में मध्य-एशिया का सदा ही बहुत बड़ा हाथ रहा है। ईसा की १२वीं शताब्दी में भी मध्य-एशिया में एक ऐसी ही शक्ति पैदा हुई। उत्तरी चीन में एक देश है मंगोलिया, जहाँ तब ख़ानाबदोश जातियों के लोग रहते थे। शताब्दियों तक कठोर जीवन बिताने के बाद एक दिन वे अकस्मात् समस्त पृथ्वी के विरुद्ध खड्ग-हस्त हो उठे और सभ्य सामाजिकता का गौरव वहन करनेवाला संसार उनके सामने अविलम्ब नत-मस्तक हो गया। ११५५ ई० में ख़ानाबदोश तातारों के वंश में टिमोचीन नामक एक अद्भुत मनुष्य ने जन्म लिया था, इतिहास जिसे चंगेज़ख़ाँ के नाम से जानता है। उक्त मंगोलों और तातारों का जीवन इतना कठोर था कि उन्हें खुले आकाश के नीचे रहना होता था और भोजन के लिए निरन्तर इधर-उधर मारे-मारे फिरना होता था; अतएव स्वभावतः उक्त अवस्था से उनका जी ऊब

गया था। अन्ततः तैमूर के नेतृत्व में सौभाग्य-लक्ष्मी की खोज में वे लोग निकल पड़े और मंगोलिया की सभी ख़ानाबदोश जातियों ने मिलकर चंगेज़ को ५१ वर्ष की अवस्था में अपना नेता बनाया। न केवल इतना ही बल्कि उसे महान् ख़ान या सम्राट् की उपाधि से विभूषित किया और तब प्रारम्भ हुई मंगोलों की विजय-यात्रा। चंगेज़ के आगे ख़ाँ या ख़ान उपाधि से प्रायः यह भ्रम फैला हुआ देखा जाता है कि वह मुसलमान था पर बात ऐसी नहीं थी। चंगेज़ के नाम में यह उपाधि 'सम्राट्' के अर्थ में जुड़ी थी।

चंगेज़ख़ाँ ने जब अपनी जय-यात्रा शुरू की तब चीन में ताङ्ग-वंश का पतन हो चुका था और चीन की आन्तरिक सुव्यवस्था समाप्त हो चुकी थी। सुङ्ग राजा अपना साम्राज्य स्थापित कर चुके थे। भारत में ग़ुलाम-वंश का राज्य था। फ़ारस और मेसेपोटामियाँ पर ख़ारजम का मुस्लिम राज्य समरक़न्द को केन्द्र बनाकर शासन कर रहा था। पश्चिम में सेल्जुक़ तुर्क थे और मिस्र तथा फ़िलिस्तीन में सलादीन के वंशज राज्य कर रहे थे। बग़दाद में भी अभी ख़लीफ़ों का नाममात्र का शासन वर्तमान था।

क्रूसेडों के ये अन्तिम दिन थे। होहेन्सतावफ़ेन का फ़्रेड्रिक द्वितीय (Fredrick II. of Hohenstaufen) होली-रोमन-साम्राज्य का सम्राट् था। फ़्रांस में लुई नवाँ राज्य कर रहा था। हंगरी और पोलैंड के राज्य भी खड़े हो चुके थे। कुस्तुनतुनिया का साम्राज्य भी अभी शक्तिशाली था।

संसार की जब ऐसी परिस्थिति थी उस समय चंगेज़ख़ाँ ने अपने विश्व-विजय की योजना बनाई। उसने घोड़ों को ज़बर्दस्त ट्रेनिंग दी और उत्तरी चीन, मंचूरिया आदि को विजय करते हुए पैकिंग तक पहुँच गया। उसने कोरिया को भी जीत लिया था। सम्भवतः चीन के तुङ्ग राजाओं से उसकी मैत्री थी और उन्होंने उसकी मदद भी की थी। खारज़म के शाहों से भी उसका सम्बन्ध अच्छा था पर अन्त में बिगाड़ हो गई और चंगेज़ ने उनको परास्त कर दिया। यह १२१९ ई० का समय था। ख़ारजम का राज्य ध्वंस हो गया। उसकी शानदार राजधानी समरक़न्द भूमिसात् हो गई।

हरात, बलख़ और अन्य उन्नतिशील नगर तबाह हो गय और जहाँ भी चंगेज़ पहुँचा वह जगह वीरान हो गई।

संयोग से चंगेज़ सेल्जुक तुर्कों तथा बगदाद की ओर नहीं बढ़ा और रूस पर चढ़ दौड़ा। वहाँ पहुँचकर कीफ़ के ग्रैन्ड डिउक को परास्त करके उसे बन्दी बना लिया। १२२७ में ७२ वर्ष की उम्र में चंगेज़ख़ाँ की मृत्यु हो गई। उसका राज्य पश्चिम में काला सागर से लेकर पैसिफ़िक सागर तक फैला हुआ था। उसकी राजधानी मंगोलिया में कराकोरम के छोटे क़स्बे में स्थित थी। चंगेजख़ाँ बहुत ज़बर्दस्त संगठनकर्ता था और आदमी पहचानने में अत्यन्त ही चतुर था। यही कारण है कि उसका साम्राज्य जो बिजली की तरह अल्पकाल मे गढ़ उठा था उसकी मृत्यु के बाद ही भंग न होकर काफ़ी दिनों तक क़ायम रहा।

चंगेज़ख़ाँ को अरब और फ़ारस के इतिहास-लेखकों ने अत्यन्त अत्याचारी और निर्दयी व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है। निर्दयी वह अवश्य था पर अपने समकालीन राजाओं से किसी भी मानी में बढ़कर नहीं। निश्चय ही उसने ख़ारज़म-राज्य की जनता पर असीम अत्याचार किये पर केवल इसलिए कि उसके राजदूत को शाह ने अपमान करके मरवा डाला था! चंगेजख़ाँ ने नगरों पर जो बरबादी ढाई थी वह उसके खानाबदोश स्वभाव के ही कारण था क्योंकि उसे नगर और क़स्बों से आन्तरिक घृणा थी। यद्यपि वह स्वयं अपढ़ और निरक्षर था लेकिन जब उसने सुना कि लिखना भी एक कला है तब उसने शीघ्र ही अपने पुत्र और अपने सरदारों को उसे सीखने की आज्ञा दी और उसकी उपयोगिता में विश्वास करने लगा। उसने प्रचलित मंगोल-क़ानून को भी अपने वाक्यों के साथ लिखने की आज्ञा दी थी।

जब चंगेजख़ाँ मर गया तो उसका लड़का उगताई सम्राट् हुआ। अपने पिता की तुलना में वह अधिक शान्तिप्रिय और मानवीय भावनाओं से पूर्ण व्यक्ति था, फिर भी विजय और साम्राज्य-विस्तार का सिलसिला ख़तम नही हुआ और मंगोल लोग अब भी उत्साह और साहस से भरे हुए उफन रहे थे। फलस्वरूप एक दूसरे सेनापति साबूताई के नेतृत्व में योरप पर मंगोलों का एक दूसरा धावा हुआ और योरप पराभूत हो गया। मार्को

की बात यह है कि उक्त सेनापति किसी भी देश पर हमला करने के पूर्व जासूसों और एजेन्टों के जरिए शत्रु-देश की खबरें मँगवा लिया करता था और वहाँ की राजनैतिक और सैनिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लिया करता था, जैसा कि आधुनिक युद्धों के संचालक करते हैं। युद्ध-क्षेत्र में योरप के सैनिक उसके सैनिकों के सामने नवसिखिए लगते थे। छः वर्षों तक उसकी विजयों का क्रम चलता रहा और वे लोग लूट-खसोट और विनाश का दृश्य लिये हुए पोलैंड, हंगरी और फ्रांस तक पहुँच गये थे। फ्रेड्रिक महान्, जो स्वयं पश्चिमी संसार में एक बड़ा आश्चर्य समझा जाता था पूर्व के इस नये आश्चर्य के सामने अवश्य ही नत-मस्तक हो गया होगा। अन्त में ओगताई की मृत्यु हो गई तथा उत्तराधिकार के लिए झगड़े उठ खड़े हुए, जिससे विवश होकर मंगोल-सेनायें योरप से वापस आने लगीं (१२४२ ई० में)। इस बीच मंगोल लोग सारे चीन में फैल चुके थे और चीन के राजवंशों को खतम कर चुके थे। १२५२ ई० में मंगूखाँ मंगोल-सम्राट् या खान बना और उसने कुबलईखाँ को चीन का गवर्नर नियुक्त किया।

यद्यपि अब भी ये महान् खान-सम्राट् खानाबदोशों के ढंग से ही खेमों में रहते थे, लेकिन अब खेमों के आकार-प्रकार में विलासिता की झलक प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगी थी। कारीगरों शिल्पियों और ज्योतिषियों का एक जमघट-सा खेमों के नगर काराकोरम में रहने लगा; और बहुत हद तक मंगोल-साम्राज्य में संगठन और शान्ति दीखने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि एक समय मंगूखाँ ईसाई-धर्म स्वीकार करने की बात भी सोचने लगा था, किन्तु उसे पोप के एकाधिपत्य की बात असह्य हो उठी और अन्त में अधिकांश मंगोल जहाँ जहाँ आबाद हुए वहीं के धर्मों में दीक्षित होने लगे। चीन और मंगोलिया में वे लोग बौद्ध बने। मध्य-एशिया में मुसलमान और शायद रूस और हंगरी में ईसाई। ऐसा समझा जाता है कि पोप ने ओगताई की मृत्यु के बाद नये खान के दरबार में एक राजदूत भेजा था और कहलाया था कि खान फिर योरप पर आक्रमण न करें, तथापि मंगूखाँ के समय में विजय और विनाश का एक तूफ़ान फिर उठ खड़ा हुआ। मंगूखाँ का भाई फुलैङ्गू फ़ारस में गवर्नर था। बग़दाद के खलीफ़ा

से किसी बात पर उसकी खटपट हो गई। ख़लीफ़ा की राजधानी बग़दाद में मंगोल राजदूत का अपमान भी किया गया। बस फ़्लैङ्ग़ूख़ाँ ने बग़दाद पर आक्रमण कर दिया और ४० दिन के घेरे के बाद बग़दाद पर अधिकार कर लिया। ख़लीफ़ा और उसके पुत्र तथा सम्बन्धी मार डाले गये। एक क़त्लेआम मच गया और टाइग्रेस नदी की धारा मीलों तक रक्ता-प्लावित हो उठी। बग़दाद खँडहर हो गया और सहस्र रजनी-चरित्र का वह विस्मयोत्पादक शहर ५०० वर्षों तक सुख और सम्पदा का उपभोग करके विनष्ट हो गया। १२९८ ई० में बग़दाद का विनाश होने के साथ ही अब्बासी राजवंश का अन्त हो गया और पश्चिमी एशिया में अरब-साम्राज्य निश्चिह्न हो गया।

वर्षों तक कोई भी ख़लीफ़ा न रहा जिसके बाद मिस्र के बादशाह ने अन्तिम अब्बासी ख़लीफ़ा के एक सम्बन्धी को ख़लीफ़ा मनोनीत कर दिया; किन्तु उसके हाथ में कोई राजनैतिक शक्ति नहीं थी।

१२३९ ई० में मंगूख़ाँ की मृत्यु हो गई। उसने अपनी मृत्यु के पहले तिब्बत को भी जीत लिया था। उसके बाद चीन का गवर्नर कुबलईख़ाँ सम्राट् बना। चूँकि वह बहुत दिनों तक चीन में रहा था और उसे चीन पसन्द था इसलिए उसने कराकोरम की प्राचीन राजधानी को तोड़कर पेकिंग को अपनी राजधानी बनाया। कुबलईख़ाँ चीन की आन्तरिक समस्याओं में इतना उलझ गया कि साम्राज्य के दूरस्थ अंग छिन्न-भिन्न होने लगे। बड़े-बड़े मंगोल गवर्नर स्वतंत्र हो गये। फिर भी उसने सारे चीन को अपने अधिकार में कर लिया। वह स्वयं भी पूर्णतः चीनी बन गया और 'युवान' नामक राजवंश की स्थापना की। उसने टाङ्किङ्ग, अन्नाम और बरमा को भी अपने राज्य में मिला लिया था। न केवल इतना ही बल्कि उसने जापान और मलयेशिया को भी जीतने की कोशिश की थी, जिसमें उसे सफलता नहीं मिली; क्योंकि मंगोल लोग समुद्री युद्ध में अभ्यस्त नहीं थे। कुबलईख़ाँ १२९० ई० में मर गया और उसके मरने के बाद मंगोल-साम्राज्य पाँच भागों में बँट गया।

उक्त पाँच विभागों में प्रमुख चीन का राज्य था जिसमें मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत, कोरिया, अन्नाम, टाङ्किङ्ग और बरमा शामिल थे।

धीरे-धीरे इसके भी टुकड़े हो गये और १३६८ई०में, यानी कुबलईख़ाँ की मृत्यु के ६८ वर्ष बाद, युवान-राजवंश भी समाप्त हो गया। दूसरा मंगोल-राज्य साइबेरिया का साम्राज्य था जिसे 'स्वर्ण-राज्य' कहते थे। १४८० ई० में मास्को के ग्रैंड डिउक ने मंगोलों को कर देना अस्वीकार कर दिया और इस तरह चारों ओर विशाल मंगोल-राज्य बिखरकर निःशक्त हो गया। ऐसी अवस्था में भी एक व्यक्ति ऐसा पैदा हुआ जिसने द्वितीय चंगेज़-ख़ाँ बनने की कोशिश की और जिसका दावा था कि वह चंगेज़-ख़ाँ के ही वंश का था; यद्यपि ऐतिहासिक सत्य यह है कि वह तुर्क था। १३७९ ई० में वह समरक़न्द का राजा हुआ था। उसका नाम था तैमूरलंग। राजा होने के बाद शीघ्र ही उसने विजय यात्रा प्रारम्भ कर दी। यद्यपि वह एक महान् सेनापति था किन्तु अत्यन्त अत्याचारी और पशु-स्वभाव का था। जहाँ कहीं भी वह गया उसने तबाहियाँ और बर्बादियाँ ढाई।

इस व्यक्ति को भारत की सम्पत्ति ने भी आकर्षित किया और समरक़न्द में उसके सरदारों की एक मजलिस हुई, जिसमें बहुत वाद-विवाद के पश्चात् इस वादे पर सरदारों ने भारत पर आक्रमण करना स्वीकार किया कि केवल लूटपाट कर ही वे लोग लौट आवेंगे, वहाँ ठहरेंगे नहीं। तब मंगोलों की एक विशाल सेना के साथ तैमूर भारत पर चढ़ दौड़ा। उसका सामना करने की योग्यता और शक्ति यहाँ के किसी शासक में नहीं थी। फलतः सहस्रों हिन्दू और मुसलमान तैमूर की वाहिनी के सहज ही शिकार बन गये। वह दिल्ली में केवल १५ दिन टिका पर इतने ही दिनों में शहर उजाड़ हो गया। १४०५ में तैमूर की मृत्यु हो गई जब वह चीन पर धावा करने जा रहा था और उसके साथ ही उसके साम्राज्य का भी अन्त हो गया।

मध्ययुग का अन्त

इँग्लैंड और फ़्रांस लगातार पारस्परिक युद्ध में संलग्न थे। १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ से १५वीं शताब्दी के बीच तक उनके बीच वह युद्ध चलता रहा जो इतिहास में १०० वर्षीय युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। फ़्रांस

के पूर्व में बरगैन्डी नामक एक राज्य था जो नाममात्र के लिए फ़ांस के अन्तर्गत होने के साथ ही साथ उसके लिए कठिना यों का भी कारण था। काफ़ी दिनों तक फ़ांस का पश्चिमी भाग इँग्लैंड के अधीन रहा और इँग्लैंड के राजा अपने को फ़ांस का भी राजा कहने लगे। ऐसे ही समय, जब फ़ांस का सितारा डूबता हुआ दिखाई दे रहा था, एक कृषक बालिका के रूप में वहाँ अकस्मात् नई आशा और नई उम्मीदों का प्रकाश फैल गया। उक्त बालिका इतिहास में 'जोन आफ़ आर्क' के नाम से प्रसिद्ध है। अँगरेज़ों को फ़ांस से निकालकर फ़ांस के राजा ने बरगैन्डी पर भी हमला किया और १४६२ ई० में उसे अपने अधिकार में कर लिया। जर्मनी उन दिनों बहुत ही दुर्बल और असंगठित राज्य था। उधर इँग्लैंड स्काटलैंड को विजय करने में भी लगा हुआ था किन्तु १३१४ ई० में राबर्ट ब्रूस के नेतृत्व में स्काट लोगों ने इँग्लैंड को हरा दिया। इससे भी पहले १२वीं शताब्दी में ही अँगरेज़ों ने आयरलैंड को जीतने का प्रयत्न शुरू कर दिया था। तब से आज ७०० वर्षों के भीतर आयरलैंड ब्रिटेन के इतिहास में एक ज्वलन्त समस्या बनकर रहता आ रहा है। जब योरप की ऐसी अवस्था थी उस समय क़ुस्तुनतुनिया को, १२०४ ई० में, ग्रीक लोगों से लैटिन आक्रमणकारी (धर्म-युद्ध के सम्बन्ध में) छीन चुके थे, किन्तु अन्त में १२६१ ई० में ग्रीकों ने उन्हें मार भगाया और फिर पूर्वी रोमन-साम्राज्य की नींव डाली, जो स्थायी न हो सका; क्योंकि उधर पूर्व से एक और भयंकर तूफ़ान बढ़ा हुआ चला आ रहा था।

जब मंगोल लोग एशिया में बढ़ रहे थे उस समय उनके भय से ५० हज़ार उत्तमन तुर्क अपना देश छोड़कर भाग खड़े हुए थे। ये लोग उस्मान नामक किसी व्यक्ति के नाम पर उस्मानी या उत्तमन तुर्क कहलाते थे। मंगोलों-द्वारा भगाये जाने पर उन लोगों ने सेल्जुक तुर्कों के यहाँ पश्चिमी एशिया में शरण ली। धीरे-धीरे सेल्जुक तुर्क ज्यों-ज्यों दुर्बल होते गये त्यों-त्यों उत्तमन तुर्कों की शक्तियाँ बढ़ती गईं। १३५३ ई० में उन लोगों ने ऐसा संगठन किया और ऐसी व्यवस्था बना ली कि योरप तक पर धावा मारने लगे। उन्होंने बल्गेरिया और साइबेरिया पर अधिकार जमाकर एड्रियानोपुल को अपनी राजधानी बनाया। इस तरह

क़ुस्तुनतुनिया के दोनों ओर, एशिया और योरप में, एक नया साम्राज्य—उत्तमन-साम्राज्य—गढ़ उठा। फिर भी क़ुस्तुनतुनिया स्वयं पूर्वीय रोमन-साम्राज्य में ही था बल्कि यों कहना चाहिए कि उक्त साम्राज्य अब केवल कुस्तुनतुनिया में ही संकुचित और सीमित होकर रह गया था। अन्त में १४५३ ई० में तुर्कों ने क़ुस्तुनतुनिया पर भी अधिकार कर लिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तमन तुर्क लोग ग्रीकों को बहुत अमान्य न हुए और उन्होंने पोप और पश्चिमी ईसाइयों की तुलना में तुर्कों को अच्छा समझा; क्योंकि लैटिन धर्मान्ध आक्रमणकारियों (Crusaders) का उन्हें बड़ा ही कटु अनुभव था। तुर्कों का राज्य एक प्रकार का सरदार-तंत्र था, जिसकी सारी शक्ति धीरे-धीरे 'जेनोसिरीज' नामक एक विशेष प्रकार के सैनिक संगठन के हाथ में आगई। उक्त सैनिक संगठन एक ख़ास ढंग पर किया जाता था। राजा छोटे-छोटे ईसाई बच्चों को उनके माता-पिता से राज्य की सेवा के लिए माँग लेता था और बचपन से ही उन्हें विशेष प्रकार की सैनिक शिक्षा दिलवाता था। 'जेनीसिरीज' 'जाँ निसार' शब्द का ही रूपान्तर है।

उत्तमन सुलतानों ने क़ुस्तुनतुनिया को जीतकर वहाँ की बहुत-सी बुराइयाँ भी सीख लीं। कुछ दिन तक तो वे लोग पूर्ण शक्तिसम्पन्न बने रहे जिससे सारा ईसाई योरप थर्राता रहता था। उन्होंने मिस्र को भी जीत लिया था और स्वयं ख़लीफ़ा की उपाधि धारण कर ली थी। तब से उत्तमन सुलतान अभी पिछले दिनों तक अपने को ख़लीफ़ा कहते आये, जब तक मुस्तफ़ा कमालपाशा ने ख़िलाफ़त और सुलतानपद दोनों का अन्त न कर दिया।

इतिहास में क़ुस्तुनतुनिया का पतन एक नये अध्याय का सूत्रपात करता है। समझा जाता है कि उसके साथ ही मध्ययुग का भी अन्त हो गया। लगभग एक हज़ार वर्षों के अंधकार और अज्ञान को लेकर मध्ययुग बिदा हो गया। आज के नवीन जीवन और नव-जागृति का वर्णन हम आगामी पृष्ठों में करेंगे।

दसवाँ प्रकरण

योरप का नव जागरण

जब मंगोल लोग संसार के इस कोने से उस कोने तक विजय और सम्पत्ति के लिए धावे कर रहे थे उस समय भी, यह कहना अत्युक्ति न होगी कि योरप के निवासी कई अर्थों में असभ्य ही थे। उनकी चेतना जड़ थी, प्राण-शक्ति सुप्त थी और उसी समय से, मोटे तौर पर, उनमें नवीन जागरण प्रारम्भ हुआ, जिसका पहला कारण सम्भवतः सामन्त-प्रथा का आंशिक पतन था। विभिन्न स्थानों पर व्यापारिक केन्द्र उठ खड़े हुए, जहाँ देश-देशान्तरों के लोगों को आपस में मिलने और विचारों के आदान-प्रदान करने का अवसर मिला। शिक्षा की वृद्धि हुई और आधुनिक विज्ञान का धीरे-धीरे जन्म होने लगा।

काग़ज़ के आविष्कार के कारण योरप में शिक्षा का विस्तार और भी सुगम हो गया। हम कह चुके हैं कि चीनवालों से पहले-पहल काग़ज़ बनाने की कला अरबों ने सीखी थी और अरबवालों ने उसे योरप तक पहुँचाया था। इटैलियन लोगों ने १३वीं शताब्दी में काग़ज़ बनाना शुरू किया। यद्यपि उस समय उसका दाम बहुत महँगा पड़ता था किन्तु लगभग १०० वर्षों में ही वह अपेक्षाकृत सस्ता होकर अधिकाधिक लोगों के व्यवहार योग्य भी हो गया। काग़ज़ के साथ ही छापे की मशीनें भी आविष्कृत हुईं। पाठकों को आश्चर्य होगा कि यह आविष्कार भी चीन ही वालों के मस्तिष्क की उपज था, जिसे गुटेनबर्ग नामक एक जर्मन ने उन्नत किया और योरप में फैलाया।

फिर भी यह समझना भूल होगी कि १०वीं शताब्दी में योरप पूर्ण तरह जाग्रत हो उठा था। लैटिन चर्च का प्रतिगामी रवैया योरप की प्रगति के मार्ग में ज़बर्दस्त बाधा था। जाने कितनी कुप्रथाओं, कितने अन्धविश्वासों और विधिनिषेधों के दलदल में जनता फँसी हुई थी। पृथ्वी गोल है, यह

कहने तक पर जेल की सज़ा होती थी, नवीन वैज्ञानिक या धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन पर मृत्यु का दण्ड दिया जाता था। कैथोलिक चर्च की इन सब कूपमंडूकताओं के विरुद्ध मार्टिन-लूथर आदि व्यक्तियों ने विद्रोह का झंडा उठाया और ज्ञान का प्रचार करना शुरू किया।

हम पहले ही बता चुके हैं कि मंगोलों के दरबार में देश-देशान्तर के लोग आते थे और मंगोल-सम्राट् सभी विदेशी आगन्तुकों का समादर करते थे। उनके दरबार में ज्ञान-चर्चायें तथा ज्ञान-वृद्धि के प्रयत्न निरन्तर होते रहते थे। योरप से भी लोग जाते रहते थे। इसके साथ ही मार्को-पोलो नामक सुविख्यात इटैलियन यात्री के भ्रमण-वृत्तान्तों से भी अन्त-र्प्रादेशिकता को प्रोत्साहन मिला और लोग प्राच्य देशों के ऐश्वर्य और विभव-विलास का चमत्कार देखने के लिए चंचल हो उठे। मार्कोपोलो के अनुकरण में दुस्साहसिक समुद्र-यात्रायें करके जीनेवार नामक एक नाविक इतिहास में अमर हो गया, जिसका दूसरा नाम हम जानते हैं क्रिस्टॉफ़र कोलम्बस और जिसे अमेरिका का आविष्कर्त्ता होने का श्रेय प्राप्त है। कोलम्बस की इस असाधारण सफलता ने अनेकों की ईर्ष्या को जाग्रत् कर दिया और कुछ ही दिनों बाद १४९७ ई० में पोर्चुगीज़ों का एक दल अफ़्रीक़ा के दक्षिण से होते हुए भारतवर्ष पहुँचा। उनका नेता वास्को-डिगामा, भारत के कालीकट नामक स्थान के राजा ज़मो-रिन के यहाँ अतिथि रहा था जिसकी आज्ञा लेकर उन लोगों ने १५१० ई० में गोआ में अपना व्यापारिक केन्द्र स्थापित किया था। बाद में इन लोगों ने मलाया पर भी अधिकार कर लिया और जापान तथा चीन में भी पहुँचे, जहाँ स्पेनवाले उनसे पहले ही पहुँच चुके थे। १५१९ ई० में मौगेलान नामक एक पोर्चुगीज़ ने स्पेन के राज्य में नौकरी कर ली और बहुत-सा धन लेकर नवीन देशों की खोज के लिए समुद्री यात्रा के लिए निकला। अपने जहाज़ी बेड़े पर बहुत दिनों तक अथाह महासागर की उत्ताल तरंगों में मृत्यु से खेलते रहने के बाद वह आधुनिक फ़िलीपाइन द्वीप-समूह में पहुँचा। यद्यपि वह स्वयं वहीं मर गया किन्तु उसके ५ जहाज़ों में से दो सकुशल वापस लौट आये; और इस तरह समुद्र-मार्ग से लोगों ने सारी पृथ्वी की प्रदक्षिणा कर डाली। यहाँ पर यह बतला देना भी असंगत

न होगा कि प्रशान्त महासागर का आधुनिक नाम मौगेलान ने ही दिया था।

मॉर्टिन लूथर नामक एक जर्मन संन्यासी के पोप और उसके अनुयायियों के स्वेच्छाचार के विरुद्ध विद्रोह करने की बात हम पहले ही कह चुके हैं। लूथर की बात जिन लोगों ने भी सुनीं उन पर जादू जैसा असर हुआ और उन लोगों ने सर्वशक्तिमान् पोप के घोर विरोधों के होते हुए भी एक नया धर्म-सा खड़ा कर लिया जो ईसाई-मत का 'प्रोटेस्टेंट' सम्प्रदाय कहलाता है।

अँगरेज़ी शब्द 'प्रोटेस्ट' का अर्थ होता है प्रतिवाद करना। प्रोटेस्टेंट लोगों का दमन करने में पोपों की भयंकर अपकीर्ति हुई। अकारण रक्तपात, हत्याकाण्ड और नाना प्रकार के अत्याचारों-अनाचारों से भी उनका दमन सम्भव नहीं हो सका। अन्त में इँग्लैंड के राजा अष्टम हेनरी तक ने इस नये सम्प्रदाय को प्रश्रय दिया और अब यह बात एक प्रकार से निश्चित हो गई कि इस नये सम्प्रदाय को निश्चिह्न कर सकना किसी तरह भी सम्भव नहीं हो सकेगा। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह हुई कि जिस अष्टम हेनरी पर पोपों का अत्यन्त भरोसा था और प्रसन्न होकर जिसे पोप ने "सत्य-विश्वास के रक्षक" की उपाधि प्रदान की थी, वह स्वयं 'प्रोटेस्टेंट' बन गया।

प्रोटेस्टेंट लोगों के बलिदान का सबसे बड़ा सुफल यह हुआ कि जन-साधारण के मन में पोप की जो एक भयंकर बिभीषिका घुसी हुई थी वह निर्मूल हो गई। पोप साक्षात् ईश्वर का प्रतीक माना जाता था और वह अपने इच्छानुसार आचरण करने का अधिकारी समझा जाता था। प्रतिवाद करने का अधिकार किसी को भी नहीं था। ये अन्धविश्वासपूर्ण धारणायें टक-टूक हो गईं और पाश्चात्य जगत् को एक मानसिक स्वतंत्रता की प्राप्ति हुई। किन्तु इसका एक कुफल भी हुआ। वह यह कि अब तक शक्ति पोप और राजाओं में बँट कर रहती थी; अब राजा सर्वशक्तिमान् हो उठा और प्रतिद्वन्द्वी ईसाई-सम्प्रदायों और धर्माचार्यों को पग-पग पर राज्याश्रय की अपेक्षा रहने लगी। फिर भी धीरे-धीरे जन-साधारण में भी स्वाधीनता के स्वप्न तभी से जाग्रत् होने लगे। ऐसा प्रतीत

होता है कि जन-साधारण की इस स्वातंत्र्य-चेतना के अग्रणी रहे हैं इँगलैंड के ही लोग; और इसी लिए रानी एलिज़ाबेथ की मृत्यु के बाद चार्ल्स प्रथम को उसकी स्वेच्छाचारिता के लिए फाँसी पर लटका देने में भी उन्हें हिचक न हुई। यह १६४९ ई० की बात है। यद्यपि चार्ल्स की फाँसी के बाद जो जन-तंत्र स्थापित हुआ वह दस-बारह वर्ष में ही समाप्त हो गया और फिर राजतंत्र की प्रतिष्ठा हो गई, किन्तु इँगलैंड के राजाओं के हाथ में अनियन्त्रित शक्ति और शासन फिर उसके बाद कभी नहीं आया। कारण यह था कि राजतंत्र की पुनः प्रतिष्ठा जब हुई तब चार्ल्स के दो तुच्छ लड़के राज्यासीन हुए जो अत्यन्त ही अयोग्य थे; उसके बाद भी जब जर्मनी से जर्मन-राज्यवंश आकर स्थापित हुआ (जो आज तक शासन कर रहा है) तब उन्हें भी देश की भाषा का ज्ञान न होने के कारण बहुत दिनों तक शासन-व्यवस्था के लिए अपने दरबारियों और मंत्रियों पर ही निर्भर रहना पड़ा। फलस्वरूप धीरे-धीरे पार्लियामेंट के हाथ में तमाम शक्ति आगई। १८वीं शताब्दी के अन्त में जार्ज तृतीय ने एक बार फिर पूर्ण शक्ति प्राप्त करने की चेष्टा की किन्तु उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिली।

इस समय सारे योरप में अधिनायकत्व का युग आगया था। रूस का विशाल देश सम्पूर्ण रूप से अव्यवस्थित था। पहले न वहाँ नगर थे न कोई बन्दरगाह और न कोई ज्ञान-विज्ञान की चर्चा ही। शेष योरप के लोग रूसवालों को अर्द्ध बर्बर समझा करते थे; किन्तु अकस्मात् जब पीटर दि ग्रेट वहाँ का राजा हुआ और अपने कठोर हाथों में शासन-सूत्र को ग्रहण किया तब सारी स्थिति एकदम से बदल गई। योरप के नये देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से तथा व्यवसाय-वाणिज्य के लिए समुद्र की निकटता आवश्यकीय समझ वह राजधानी प्राचीन सेन्टपिटर्स-बर्ग या आधुनिक लेनिन ग्राड में उठा लाया। इसके अतिरिक्त वह स्वयं भी विदेश गया और जहाज़-निर्माण का कौशल आदि सीख आया। उसने शीघ्र ही देश की आन्तरिक अवस्था को पूर्णतः बदल दिया। इस तरह रूस अर्द्ध बर्बर देश से उठकर १६८२ से १६८५ तक में प्रथम श्रेणी का शक्तिशाली देश बन गया। जर्मनी भी असंख्य

छोटे-छोटे राज्यों में बँटकर अनवरत विरोध और विग्रह के फलस्वरूप दुर्बल हो गया था, किन्तु प्रशा के राजा फ़्रेड्रिक ने, जो इतिहास में फ़्रेड्रिक महान् के नाम से प्रसिद्ध है, शासन-सूत्र को अपने हाथ में लेकर (१७४० से १७८६) तक जर्मनी की काया पलट कर दी। उसने प्रशा को तो प्रचण्ड शक्तिशाली बनाया ही, आधुनिक अखण्ड जर्मन-शक्ति का बीज भी उसी का बोया हुआ है।

उधर फ़्रांस के बूर्बों राजवंश के दो विख्यात मंत्रियों—कार्डिनल रिश्लू और माज़ारिन—की सतत चेष्टा और चतुर्दश लुई की प्रतिभा ने फ़्रांस को भी योरप में एक प्रधान शक्ति बना दिया। योरप के इतिहास में चतुर्दश लुई 'ग्रैन्ड मानर्क' के नाम से विख्यात है। उसने १६३४ से १७१५ ई० तक राज्य किया था। उसकी शक्ति और ऐश्वर्य योरपवालों की निगाह में अनुकरणीय बन गया था और सभी देश प्राणप्रण से फ़्रांस की समता करने की चेष्टा करते थे; यहाँ तक कि फ़्रांस की भाषा भी नवोत्थित रूस और प्रशा आदि की राष्ट्र-भाषा बनकर चल निकली। फ़्रांस का ग्रैंड मानर्क भी अपने ऐश्वर्य के प्रदर्शन में विशेष दिलचस्पी लेता था। उसके शासनकाल के निर्मित बड़े-बड़े प्रासाद और विशाल इमारतें आज भी देखनेवालों को विस्मय-विमुग्ध कर देती हैं। लोगों का कहना है कि उसकी विलासिता और उसके ऐश्वर्य की कहानी भारत के मुग़ल सम्राटों की विलासिता की ख्याति को भी लज्जित कर सकती है।

किन्तु आडम्बर और विलास की इन सारी सामग्रियों को एकत्र करने में प्रजा और जन-साधारण का कितना उत्पीड़न और शोषण किया जाता होगा इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। यद्यपि चतुर्दश लुई ने फ़्रांस को महान् गौरव प्रदान किया था किन्तु उसके बाद कुछ भी स्थिर न रह सका; रह गया केवल पीड़न, शोषण और अपव्यय— न सुशासन रहा न व्यवस्था रही। प्रजा के सुख-स्वास्थ्य का तो पूछना ही नहीं! केवल विलासमय घृणित जीवन बिताना और धन का घोर अपव्यय यही रह गया फ़्रांस के राजाओं और राज-कर्मचारियों का एक मात्र लक्ष्य। स्वभावतः ही फल यह होना था कि प्रजा का

उत्पीड़न उनके विद्रोह के रूप में परिणत हो, राजा और राजतंत्र का विनाश हो और क्रान्ति की अग्नि में उक्त समस्त पापों का शोध हो।

रूस में भी बहुत दिनों तक जन-साधारण में असंतोष पुञ्जीभूत होता रहा, किन्तु वहाँ पर उसका प्रतिफल उदित हुआ बहुत दिनों बाद, हमारे इस युग में। १६वीं से १८वीं शताब्दी के बीच में योरप के जन-साधारण में जो जागरण दृष्टिगोचर हुआ था वह फिर कभी निश्चिह्न नहीं हुआ, बल्कि दिनों-दिन प्रगति के पथ पर ही अग्रसर होता गया। फल यह हुआ कि योरप के अधिकांश देशों से या तो राजाओं का निर्वासन हो गया, राजतंत्र नष्ट हो गये या राजाओं की शक्ति अत्यन्त सीमित करके उन्हें पंगु बना दिया गया। किन्तु इस गड़बड़ी में भी, इस अव्यवस्था और अशान्ति में भी योरप में राज्य-विस्तार का सिलसिला बन्द न हुआ। अमेरिका का आपस में बँटवारा करने के लिए तो विग्रह-विरोध हुए ही, एशिया और अफ़्रीक़ा में भी खुलकर हुए। पहले तो योरप में प्राय: सभी देश इस राज्य-विस्तार के स्वप्न से उन्मत्त हो उठे, किन्तु बाद को नार्वे, डेनमार्क, स्वेडन प्रभृति देश योरप के स्थानीय विवादों में इतना उलझ गये कि बाह्य राज्य-विस्तार की ओर ध्यान दे सकना उनके लिए असम्भव हो गया। फल यह हुआ कि एशिया में हालैंड, फ़्रांस और इँग्लैंड तथा अमेरिका में फ़्रांस, इँग्लैंड और स्पेन के बीच ख़ूब गम्भीर झगड़े-लड़ाइयाँ हुईं। अन्त में अँगरेज़ों को सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई। १७वीं शताब्दी में इँग्लैंड में जब कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों में भीषण विरोध और लड़ाइयाँ चल रही थीं उस समय अनेक अँगरेज़ भागकर अमरीका में जा बसे, जिनके ही वंशधर आधुनिक अमरीका के गोरे अधिवासी हैं।

अँगरेज़ों के प्रधान प्रतिद्वन्द्वी फ़्रांसीसी लोग अपनी विलासिता और गृह-कलहों में इतने बुरी तरह संलग्न हो गये कि बाहर की उन्हें ख़बर ही न रह गई। भारतवर्ष में भी अँगरेज़ों की चातुरी और कूटनीति के आगे अन्य योरपीय जातियाँ हतबुद्धि रह गईं और उनका साम्राज्य-स्थापन का स्वप्न टूट गया। मुग़ल सम्राटों का गौरव जिस समय अपने शीर्ष स्थान पर था, तभी ईस्ट इंडिया कम्पनी नामक एक व्यापारिक कम्पनी यहाँ व्यापार

करने की सुविधाओं की भिक्षा माँगने मुग़लों के दरबार में उपस्थित हुई थी। जब सम्राट् आलमगीर औरङ्गज़ेब की मृत्यु हो गई तथा मुग़लों का पतन प्रारम्भ हो गया तब भारतवर्ष के चारों ओर से जिन विभिन्न दलों ने सर उठाने की कोशिश की और जिनके स्वार्थ आपस में टकराये उन्होंने इन विदेशी व्यापारियों की सहायता लेनी शुरू की। फलस्वरूप समुद्र पार के इन नगण्य व्यापारियों के हाथ साम्राज्य-विस्तार की सुविधा भी अनायास ही आगई और तब वह अँगरेज़ी व्यापारिक कम्पनी व्यापार-विस्तार से अधिक राज्य-विस्तार की ओर प्रवृत्त हुई।

एक अन्य योरपीय जाति भी धीरे-धीरे एशिया में राज्य-विस्तार करने लगी थी। किन्तु वह समुद्र-पथ से नहीं बल्कि स्थल-मार्ग से अग्रसर हो रही थी। मंगोलों का अधःपतन हो चुका था, चीन में लिंगवंश के पतन के बाद (१६४४ ई०) मंचू राजवंश चीन का साम्राज्य अधिकृत कर चुका था। उसी समय रूसवालों ने पूर्व की ओर से आकर धीरे-धीरे समस्त साइबेरिया पर अधिकार स्थापित कर लिया।

अमरीका की "मय" सभ्यता

यद्यपि हमने अत्यन्त प्राचीन प्रागैतिहासिक युगों की चर्चा करते समय अमरीका की "मय" सभ्यता का उल्लेख किया था, फिर भी अब तक जो कुछ लिखा गया है वह केवल योरप, एशिया और उत्तरी अमरीका का ही इतिहास है। अमरीका और आस्ट्रेलिया के बारे में अभी तक कुछ नहीं कहा जा सका है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्राचीन काल में भी अमरीका में एक सभ्यता थी जिसके बारे में इतिहास को बहुत कम जानकारी है।

यह एक आम धारणा फैली हुई है कि कोलम्बस तथा अन्य योरपीयों के पहुँचने के पूर्व अमरीका असभ्य था। यह धारणा नितान्त भ्रमात्मक है। सम्भवतः पत्थर-युग में भी, जब कि मनुष्य अभी कहीं भी आबाद नहीं हुआ था, एशिया और उत्तरी अमरीका के बीच स्थल-मार्ग से यातायात का सम्बन्ध था। अलास्का के रास्ते से क़बीलों के दल एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक आया-जाया करते थे। बाद को यह यातायात का सम्बन्ध

टूट गया और अमरीकन लोगों ने अपनी निजी सभ्यता गढ़ डाली। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त क्षेत्र में सभ्यता के तीन केन्द्र थे--मैक्सिको, मध्य अमरीका और पेरू। यह स्पष्ट नहीं है कि उक्त सभ्यतायें कब शुरू हुईं, किन्तु मैक्सिको की संवत्-गणना ६१३ ई० पूर्व के लगभग प्रारम्भ होती है और ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी में हमें वहाँ पर उन्नत नगर उठते मिलते हैं। वहाँ पत्थर की चीजें, बर्तन, बुनाई और अच्छी रँगाई के नमूने आदि भी मिलते हैं। जस्ता और सोना बहुतायत से मिलता है, यद्यपि लोहे का अभाव देखा जाता है। वस्तुकला भी उन्नत मालूम होती है और एक प्रकार की विचित्र लिखने की पद्धति भी दृष्टिगोचर होती है।

सभ्यता के इन एक-एक केन्द्रों में बहुतेरे राज्य हुआ करते थे। सुसंगठन और सुदृढ़ शासन मौजूद था और नगरों में सुसंस्कृत समाज विद्यमान था। ९६० ई० के लगभग उक्समल का नगर स्थापित हुआ और वह शीघ्र ही संसार के महान् नगरों में हो गया।

मध्य अमरीका के तीन प्रमुख राज्यों ने संयुक्त रूप से एक संगठन स्थापित किया जो 'मयपन' संघ कहलाता है। यह लगभग १००० ई० की बात है। उक्त तीनों राज्य और स्वयं 'मय' सभ्यता पुरोहितों-द्वारा शासित थी।

लगभग १०० वर्ष तक उक्त संघ क़ायम रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके बाद वहाँ एक सामाजिक क्रान्ति हुई और सीमान्त की किसी विदेशी शक्ति ने हस्तक्षेप किया था। ११९० ई० के लगभग मयपन के नगर, उसकी सभ्यता और उसके संघ का अन्त हो गया। अगले १०० वर्षों में ही दूसरे लोग रंगमंच पर आ धमके। ये लोग थे मैक्सिको के अज़टेक्स लोग। १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लगभग १३२५ ई० में उन लोगों ने मय देश को जीत लिया और टेनॉक्लिट्लान नामक नगर स्थापित किया। शीघ्र ही उक्त नगर समूचे मैक्सिकन संसार की राजधानी बन उठा और उसकी आबादी भी खूब बढ़ गई।

अज़टेक्स लोग सैनिक जाति के थे। उनके पास अनेक उपनिवेश और क़िले थे। सेनाओं के उपयोग के लिए सड़कों की सुन्दर व्यवस्था भी उनके

यहाँ थी। यह भी कहा जाता है कि वे अपने अधीनस्थ देशों को लड़ाकर शासन करने में भी खूब प्रवीण थे। इन सबके बावजूद भी पुरोहितों का अधिकार अज़टेक्स लोगों पर भी क़ायम रहा। उन लोगों में नरमेध की भयंकर प्रथा भी मौजूद है। २०० वर्षों तक बड़ी ही कड़ाई से अज़टेक्स लोगों ने शासन किया। बाहर से देखने पर खूब शान्ति और सुरक्षा उनके साम्राज्य में विद्यमान थी; किन्तु जनता का निर्दयतापूर्वक शोषण हो रहा था। ऐसा राज्य स्वभावतः बहुत दिनों तक स्थिर नहीं रह सकता था और १५१९ ई० में अज़टेक्स साम्राज्य का विनाश हो गया। यह विनाश उपस्थित हुआ कुछ मुट्ठी भर विदेशी दुस्साहसिक समुद्री डकैतों के द्वारा। हरनान कोर्टिस नामक स्पेनिश अपने साथ एक छोटी-सी सेना लेकर आया, जिसके पास घोड़े और बन्दूकें थीं। ये साधन मेक्सिकन-साम्राज्य के पास नहीं थे। फिर भी मैक्सिकन-साम्राज्य के पतन का प्रमुख कारण था जन-वर्ग का घोर असन्तोष ।

कोर्टिस एकाधिक बार पराजित होकर निराश हो भाग भी चला था; किन्तु मूल अधिवासियों की सहायता से उसने फिर मैक्सिको को विजय कर लिया। न केवल इतना ही; बल्कि मैक्सिकन-सभ्यता का भी इस पराजय के साथ अन्त हो गया। 'मय' सभ्यता में उत्थित हुए सारे नगर नष्ट हो गये और उस स्थान पर युकेटन का जंगल उठ आया। वहाँ का सारा प्राचीन साहित्य नष्ट हो गया। केवल तीन प्राचीन किताबें बची हुई हैं, जिन्हें भी पढ़ सकने में आज तक कोई समर्थ नहीं हो सका है। यह एक आश्चर्य ही की बात है कि १५०० वर्षों तक सुख, शान्ति और सभ्यता का उपभोग करके कोई जाति राजनैतिक कारणों से सर्वथा निश्चिह्न हो जाय ।

दक्षिणी अमरीका के, पेरू में, सभ्यता का एक और केन्द्र था, जहाँ 'इङ्का' का शासन था। वह एक 'ईश्वरी राजा' जैसा था। पेरू की सभ्यता अपने अन्तिम दिनों में मैक्सिको की सभ्यता से बिलकुल ही असम्बद्ध थी, यद्यपि पेरू और मैक्सिको बहुत दूरी पर नहीं स्थित हैं। जब कोर्टिस ने मैक्सिको पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, उसके बाद ही पिज़ारो नामक एक स्पेनिश ने १५०० ई० में धोखे से 'इङ्का' के राज्य पर अधि-

कार कर लिया। पिज़ारों ने जनता को धोखा देने के लिए 'इङ्का' के नाम पर ही शासन करने की चेष्टा की। कुछ दिनों तक इस प्रकार वह जनता से अनन्त धनराशि खींचता भी रहा; पर अन्त में उसकी क़लई खुल गई और उसका अन्त हो गया। बाद को पेरू स्पेनिश उपनिवेश का एक अंग बनकर रह गया। पेरू के स्वर्णकारों की कृतियाँ अत्यन्त सुन्दर बतलाई जाती हैं और समझा जाता है कि वहाँ पर एक समुन्नत कला की परम्परा मौजूद थी।

मिङ्ग और मञ्चू राज्यवंश

चीन में कुबलईखाँ-द्वारा स्थापित किया हुआ युवान-राज-वंश समाप्त हो चुका था और एक जनक्रान्ति ने मंगोल शक्तियों को १३६८ ई० ही में चीन की महान् दीवार के पीछे मार भगाया था। उक्त क्रान्ति का नेता था 'हुङ्ग-ऊ'। यद्यपि वह पढ़ा-लिखा कम था और ग़रीब मज़दूर का लड़का था; किन्तु जब वह मंगोलों को भगाकर सम्राट् बना तब भी उसमें कोई दम्भ नहीं आया तथा वह आजीवन यह नहीं भूला कि वह जनवर्ग का आदमी है। उसने ३० वर्षों तक राज्य किया और सदा इस बात के लिए प्रयत्नशील रहा कि जनसाधारण की स्थिति उन्नत हो। उन्नतिशील 'मिङ्ग-राज-वंश' की नींव उसी ने डाली। उसके बाद उसके पुत्र 'युङ्ग -लो' ने १४०२ से १४२० तक राज्य किया। उक्त वंश में और भी बहुत से सम्राट् हुए और १३६८ से १६४४ तक उनका शासन क़ायम रहा। चीन के इतिहास में यह अत्यन्त ही उज्ज्वल अध्याय है, जब कि बाह्य और आन्तरिक शान्ति से जनता ख़ूब सुखी और सम्पन्न थी। मिङ्ग सम्राटों ने यद्यपि साम्राज्य-विस्तार की नीति नहीं बरती फिर भी जापान, कोरिया, जावा, सुमात्रा, इन्डोचाइना आदि उन्हें अपना सम्राट् मानते थे। शासन अत्यन्त सुव्यवस्थित था। किसानों पर कर नाममात्र को था। काग़ज़ के सिक्कों का भी प्रचार था। भव्य इमारतें और उन्नत-चित्र-कला दृष्टि-गोचर होने लगी थी।

जिस तरह भारत में योरपीय कम्पनियाँ—व्यापारिक सुविधाओं की याचना करती हुई मुग़ल सम्राटों के दरबार में आई थीं, वैसे ही १६वीं

शताब्दी के प्रारम्भ में मिङ्ग के सम्राटों के पास भी गई थीं; और उन्हें उसी तरह सुविधाएँ मिली थीं।

मिङ्ग-वंश का भी दसवीं शताब्दी के मध्य तक अन्त हो गया और आज जहाँ मंचूरिया है वहीं से मंगोलों की एक शाखा चीन में आ पहुँची, जिसका नाम 'मंचू' है। इन्हीं मंचू लोगों ने मिङ्ग सम्राटों की जगह ली। मंचू लोगों से लड़ने में चीनवालों के अपार धन-जन की हानि हुई। सम्भवतः उन्नत मिङ्ग राजा विलासी और अयोग्य भी हो गये थे, अतएव अन्त में मंचू लोगों की विजय हुई।

१६५० ई० में कैन्टन पर अधिकार करके मंचू लोग समस्त चीन के स्वामी बन बैठे। इस तरह यह अर्ध-विदेशी-साम्राज्य धीरे-धीरे सुदृढ़ और उन्नतिशील बनता गया। मंचू राज्य-वंश में कुछ असाधारण योग्य-शासक और राजनीतिज्ञ पैदा हुए। मंचू-वंश का दूसरा सम्राट् 'काङ्ग ही' था जो केवल ८ वर्ष की अवस्था में सिंहासनारूढ़ हुआ था। वह ६१ वर्षों तक संसार के सबसे बड़े साम्राज्य का स्वामी बना रहा। यद्यपि सैनिक महत्ता के लिए इतिहास में उसका कोई भी स्थान नहीं है फिर भी अपने राजनैतिक चातुर्य और साहित्यिक क्रियाशीलताओं के लिए वह अनन्त काल तक याद किया जायगा। वह कनफ़्युशियन-धर्म का दृढ़ अनुयायी था। हमारे यहाँ के मुग़ल सम्राटों की तरह विदेशी होते हुए भी उसने अपने को चीन की संस्कृति, चीन की विचारधारा और चीन की सभ्यता में पूरी तरह मिला दिया था। वह स्वयं भी चीनी दर्शन और साहित्य का गम्भीर विद्वान् था तथा अन्य धर्मों के बारे में भी बहुत ही सहिष्णु था।

लगभग सभी मंचू सम्राटों ने असाधारण लम्बी अवधियों तक शासन किया। सम्राट् 'काङ्ग ही' का पोता 'चियेन-लुङ्ग' चौथा सम्राट् हुआ था। उसने भी १७३६ ई० से १७९६ ई० तक—६० वर्ष—राज्य किया था। अपने दादा ही की तरह वह भी अत्यन्त सुरुचि-सम्पन्न तथा विद्या-व्यसनी था। उसने साम्राज्य का भी विस्तार किया। सुरक्षित रखने योग्य साहित्यों की खोज कराकर उसने टिप्पणियों के साथ उनका संकलन और सम्पादन कराया था। चीन का वैदेशिक व्यापार भी इस काल में ख़ूब उन्नत हुआ। लुङ्ग के समय में ही चाय का व्यापार भी प्रारम्भ हुआ था।

उक्त चौथे मंचू सम्राट् ने तुर्किस्तान को जीतकर अपना राज्य मध्य एशिया तक विस्तृत कर लिया। कुछ ही दिनों बाद, १७९० ई० में नैपाल के गुरखों ने तिब्बत पर आक्रमण किया। इस पर क्रोधित होकर मंचू सम्राट् ने गोरखों को न केवल तिब्बत से ही निकाल बाहर किया वरन् उनके देश नैपाल तक उन्हें खदेड़ ले गया और नैपाल को करद-राज्य बनने पर विवश किया। चियेन-लुंग के राज्य-काल के अन्त तक चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत, तुर्किस्तान शामिल थे। इसके अतिरिक्त अधीनता माननेवाले राज्यों में कोरिया, अन्नाम, स्याम और वर्मा आदि देश थे।

विजय और साम्राज्य-विस्तार बड़े ही व्यय-साध्य व्यसन हैं, जिनसे ही बहुधा साम्राज्यों का नाश होता आया है। चीन के मंचू-सम्राटों का भी यही हाल हुआ। जनता की आर्थिक अवस्था बिगड़ गई, असन्तोष फैला और देश में क्रान्ति के सारे उपादान एकत्र हो गये। बहुतेरी गुप्त समितियाँ संगठित हो उठीं।

धीरे-धीरे मंचू-राजवंश नाम-मात्र का शासक रह गया, जोकि प्रजातन्त्र की स्थापना के दिन तक बना रहा; किन्तु उसकी वास्तविक शक्ति और वैभव चौथे सम्राट् के शासन के साथ ही समाप्त हो गया।

भारत (१६वीं—१८वीं शताब्दी)

कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन का वर्णन हम कर चुके हैं। ६४८ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद समूचा देश छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया और वही हालत बहुत दिनों तक क़ायम रही। इधर अरबों की शक्ति बढ़ रही थी और सारे संसार पर उनका आतंक और प्रभाव छा रहा था। हर्ष के जीवन में ही अरबवाले भारत के सीमान्त तक पहुँच गये थे। ७१० ई० में मुहम्मद-बिन-क़ासिमनामक एक १७ वर्षीय नौजवान अरबों की एक सेना के साथ पंजाब और सिन्ध के देशों में आ पहुँचा था। फिर भी मुसलमानों का भारतीय-विजय-अभियान कई सौ वर्षों बाद शुरू हुआ। भारत में इस्लाम का विजय-ध्वज लेकर आनेवाला पहला आदमी महमूद

ग़ज़नवी था। उन दिनों नाम के लिए मध्य-एशिया का राज्य यद्यपि बग़दाद के ख़लीफ़ों के अधिकार में था फिर भी, जैसा कि हम बतला चुके हैं, हारूँरशीद की मृत्यु के बाद समूचा अरब-साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया था। अफ़ग़ानिस्तान में ग़ज़नी के आस-पास एक छोटा-सा राज्य १० वीं शताब्दी में उठ खड़ा हुआ और ९७५ ई० में सुबुक्तगीन नाम का एक व्यक्ति ग़ज़नी का पहला राजा हुआ। उसने भी भारत पर आक्रमण किया था और लाहौर के राजा जैपाल से उसकी लड़ाई हुई थी। महमूद ग़ज़नवी उसी सुबुक्तगीन का लड़का था। वह जब से ग़ज़नी का शासक हुआ तब से बराबर भारत पर धावा करता रहा और हर बार लाखों की सम्पत्ति लूट कर ले गया। कहा जाता है कि उसने १७ धावे किये, जिसमें केवल एक में उसे असफलता प्राप्त हुई। उसने पाटलिपुत्र, मथुरा और सोमनाथ तक धावे मारे। १०३० ई० में महमूद की मृत्यु हो गई। इसके बाद १५० वर्षों तक भारत में इस्लाम की विजय-यात्रा रुकी-सी रही। १२ वीं शताब्दी (लगभग ११८६ ई०) में पुनः उत्तर-पश्चिम की ओर से मुसलमानों की एक नई धारा आई। अफ़ग़ानों के एक सरदार ने ग़ज़नी पर क़ब्ज़ा कर लिया था जिसे शहाबुद्दीन ग़ोरी कहा जाता है। वह लाहौर भी आया और उस पर अधिकार जमाकर दिल्ली पर चढ़ दौड़ा। उस समय दिल्ली का राजा पृथ्वीराज चौहान था जिसके नेतृत्व में उत्तरी भारत के बहुत-से राजाओं ने मिलकर ग़ोरी से मोर्चा लिया और उसे परास्त किया। किन्तु हताश न होकर दूसरे ही साल ग़ोरी ने दुबारा आक्रमण किया और गृह-कलह के कारण दुर्बल हुए राजपूत राजाओं को जीत लिया। पृथ्वीराज मारा गया, और इस तरह ११९२ में भारत में मुसलमान-राज्य की स्थापना हुई। अगले १५० वर्षों में, यानी १३४० ई० तक, मुसलमानों का शासन दक्षिण में भी बहुत दूर तक फैल गया; किन्तु दक्षिण में वह स्थायी न रहा। उसका पराभव शीघ्र ही होने लगा। वहाँ कई नये हिन्दू और मुसलमान राज्य बन गये, जिनमें विजयनगर का हिन्दू-साम्राज्य अत्यन्त प्रसिद्ध है। दक्षिण ही में क्यों; सारे देश में लगभग २०० वर्षों में ही इस्लाम की जड़ उखड़ गई और अन्त में जब १६ वीं शताब्दी में अकबर

का उद्भव हुआ तब जाकर फिर मुसलमान-राज्य समूचे भारत में फैल सका।

शहाबुद्दीन के बाद दिल्ली में क़ुतुबुद्दीन नामक एक व्यक्ति राजा हुआ, जो शहाबुद्दीन का ग़ुलाम रह चुका था। इस वंश में जितने भी राजा हुए, सभी ग़ुलाम कहलाये। कुतुबुद्दीन का बनवाया हुआ क़ुतुबमीनार आज तक दिल्ली में विद्यमान है। ग़ुलाम राजाओं ने बंगाल और बिहार भी जीत लिया था। उसी वंश के राजा इल्तुतमिश (१२११–३६ तक) के राज्यकाल मे चंगेज़ ख़ाँ भारत के सीमान्त पर अपनी अक्षौहिणी के साथ दहाड़ रहा था। यद्यपि चंगेज़ ख़ाँ स्वयं भारत में नहीं आया; पर अन्य मंगोल सरदार अक्सर सीमान्त पर धावे मारते रहे। वे लोग कभी-कभी लाहौर तक आ जाते थे। बहुतेरे पंजाब में बस भी गये। कहा जाता है कि उनके डर से ग़ुलाम राजे उन्हें रिश्वत भी देते थे। ग़ुलाम राजवंश में इल्तुतमिश की बेटी रज़िया नामक एक रानी हुई थी, जो बड़ी ही योग्य और वीर रमणी थी। १२९० में ग़ुलाम-वंश का अन्त हो गया और अलाउद्दीन ख़िलजी अपने चाचा और ससुर जलालुद्दीन को मार कर गद्दी पर बैठा। मंगोलों के आक्रमण की आशंका से उसने यह आज्ञा दी कि जितने भी मंगोल उसके राज्य में हों मार डाले जायँ, जिसके परिणाम-स्वरूप २० हज़ार से ३० हज़ार तक निरीह मंगोल तलवार के घाट उतार दिये गये। अलाउद्दीन के शासनकाल में शासन को सुव्यवस्थित करने की भी चेष्टा की गई थी। यातायात के साधनों की अच्छी व्यवस्था की गई थी। अलाउद्दीन ने एक बहुत शक्तिशाली सेना तैयार की थी और गुजरात तथा दक्षिण के भी अधिकांश भाग जीत लिये थे। कहा जाता है कि वह दक्षिण से ५० हज़ार मन सोना और अनन्त धनराशि लेकर लौटा था। अफ़ग़ानों का एक अन्य राजवंश तुग़लक-राजवंश के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है, जिसका राजा मुहम्मद तुग़लक एक असाधारण व्यक्ति प्रतीत होता है। वह गम्भीर विद्वान्, अरबी-फ़ारसी का कवि तथा साहित्य का अच्छा ज्ञाता था। उसने ग्रीक-दर्शन भी पढ़े थे। कहा जाता है कि ओषधि-विज्ञान का भी वह एक बहुत बड़ा ज्ञाता था। उसके दिमाग़ में चीन और फ़ारस को विजय करने के अद्भुत मनसूबे थे। उसके बारे

में सबसे अद्भुत कहानी जो प्रचलित है वह यह है कि उसने एक बार आज्ञा दी थी कि दिल्ली उजाड़ दी जाय और दौलताबाद को (जो हैदराबाद की रियासत में स्थित है) राजधानी बनाया जाय। इतिहासज्ञों में मतभेद है कि आया यह केवल एक सनक थी या उसमें कोई राजनैतिक बुद्धिमत्ता भी थी। जो हो, इसका परिणाम राजधानी की जनता के लिए बहुत भयंकर हुआ और अधिकांश लोग तबाह हो गये। मुहम्मद तुग़लक ने २५ वर्ष याने १३५१ ई० तक शासन किया। उसके जीवन में ही (१३४० ई०) साम्राज्य का ह्रास होना शुरू हो गया। बंगाल और दक्षिण के बहुतेरे राज्य स्वतन्त्र हो गये। साम्राज्य केवल दिल्ली के निकटवर्त्ती स्थानों में ही सीमित होकर रह गया।

इसके बाद छोटे-मोटे अफ़ग़ान राजा दिल्ली के आस-पास के भूखंड पर सन् १५२६ तक शासन करते रहे, जब बाबर ने इब्राहीम लोदी को हराकर और नवीन मुग़ल-साम्राज्य की नींव डाली। यह साम्राज्य १५२६ से १७०७ ई० तक क़ायम रहा। यह भारतीय इतिहास का दूसरा सुवर्ण-युग है, जब महान् मुग़लों की शक्ति और उनके वैभव का आतंक समूचे एशिया और योरप पर छाया हुआ था। इस राजवंश में छः बड़े सम्राट् हुए। इसके बाद साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और मरहठों, सिक्खों तथा अन्य जातियों ने अपने छोटे-छोटे राज्य गढ़ डाले। सबके अन्त में आये अँगरेज़, जिन्होंने केन्द्रीय शक्ति के टूट जाने पर फैली हुई अव्यवस्था और अशान्ति से लाभ उठाकर अपना साम्राज्य स्थापित किया। बाबर चंगेज़ और तैमूरलंग का वंशज था और उसने उनकी महत्ता और सैनिक योग्यता को भी उत्तराधिकार में प्राप्त किया था। बाबर जब ११ वर्ष का था तभी उसके पिता का देहान्त हो गया और तभी से वह समरक़न्द का शासक हुआ। कुछ ही दिनों में उसके शत्रुओं ने उसका राज्य छीन लिया। अपने चुने हुए साथियों को लेकर उसने एक सेना इकट्ठी की, जिसके सहारे उसने भारत में अपना राज्य स्थापित किया तथा अन्त में अपना निजी राज्य भी वापस ले लिया। भारत में केवल चार वर्षों तक राज्य करके वह मर गया। आगरा में उसने एक सुन्दर राजधानी की नींव डाली थी, जिसकी सजावट के लिए क़ुस्तुनतुनिया से कारीगर बुलवाये गये थे।

मुग़लों में छः प्रमुख सम्राट् हुए। बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और आलमगीर। यद्यपि कहने को अकबर तीसरा सम्राट् था; लेकिन मुग़ल-राजवंश का वास्तविक संस्थापक वही था। जिस तरह चीन में युवान-राजवंश का कुबलई खाँ विदेशी होते हुए भी चीनी बन गया था, उसी तरह मुग़लराजवंश का अकबर भी बिलकुल भारतीय बन गया। उसने अपने जीवनकाल में ही साम्राज्य को इतना दृढ़ और लोकप्रिय बना दिया था कि वह उसकी मृत्यु के बाद भी लगभग १०० वर्षों तक अडिग बना रहा। अकबर के बाद तीन प्रमुख सम्राट् और हुए; किन्तु उनमें कोई विशेषता नहीं थी। जब भी एक सम्राट् मरता तब उत्तराधिकार के लिए उसके लड़कों में अवाञ्छनीय और अस्वस्थ होड़ एवं कलह उठा करती थी। महलों के षड्यन्त्रों से लेकर भाई के भाई के विरुद्ध, और पुत्र के पिता के विरुद्ध विद्रोह तथा षड्यन्त्र होते थे। फिर भी वैभव और विलासिता में संसार के अन्य सभी सम्राटों से मुग़लों का दरबार कहीं आगे था।

अन्तिम मुग़ल-सम्राट् आलमगीर औरंगज़ेब ने अपने पिता शाहजहाँ को बन्दी बनाकर अपना राज्य प्रारम्भ किया। उसने १६६९ से १७०७ तक, ४८ वर्षों तक राज्य किया। वह धर्मान्ध मुसलमान था और जान-बूझकर उसने हिन्दू-धर्म का दमन प्रारम्भ किया तथा जान-बूझकर ही अकबर की समन्वय-नीति को बदल दिया। राज्य के उत्तरदायी पदों से उसने यथासम्भव हिन्दुओं को वंचित रखने की कोशिश की और जिन राजपूत सरदारों ने अकबर की जड़ जमाने में सहायता की थी उनको भी उसने रुष्ट कर दिया। उसने अनेकों हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट कर दिया। यद्यपि उसने सुदूर दक्षिण में भी राज्य-विस्तार किया था; किन्तु उसके जीवन में ही उसके साम्राज्य की नींव डगमगा उठी। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद तो साम्राज्य का अस्तित्व नाममात्र ही रह गया।

यद्यपि महान् परिवर्त्तन और क्रान्तियाँ आर्थिक कारणों से ही हुआ करती हैं; किन्तु औरंगज़ेब की धर्मान्धता ने भी मुग़ल-साम्राज्य के विनाश के उपादान पैदा किये। हिन्दू-पुनरुद्धार की एक लहर चल पड़ी। मराठे, सिक्ख और राजपूत इस हिन्दू-पुनरुद्धार के अग्रणी थे और मुगल-साम्राज्य का विनाश भी उन्हीं के द्वारा हुआ।

जापान का अभ्युदय

चीन से मंगोलों के निर्वासन के बाद कोरिया में क्रान्ति हुई, जिसका नेता 'ई-ताई-जो' नामक एक देशभक्त था । क्रान्ति के अन्त में वह सिंहासनारूढ़ हुआ और उसने एक नये राजवंश की स्थापना की, जिसने लगभग ५०० वर्षों तक राज्य किया। यह राजवंश १३१२ ई० से अभी पिछले दिनों तक राज्य करता रहा है, जब कि कोरिया पर जापान ने क़ब्ज़ा कर लिया। जापान में शोगुन लोग बारहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते शासक बन बैठे और सम्राट् नाममात्र को शासक रह गया। प्रथम शोगुनवंश ने १५० वर्षों तक सुख और शान्तिपूर्वक शासन किया। जिसके बाद विलासिता और गृह-कलह के कारण उनका अन्त हुआ। सम्राट् के साथ शोगुनों का राजशक्ति के लिए संघर्ष हुआ, जिसमें दोनों का अन्त हो गया और १३३८ में एक नये शोगुनवंश के हाथ में शासन आया, जो २३५ वर्षों तक क़ायम रहा। यह वही समय था जब चीन में मिंग राजवंश राज्य करता था और शोगुनों ने उन्हें अपना सम्राट् मानकर उनकी कृपा प्राप्त करने की कोशिश की थी। जापान को उन्होंने मिंग-साम्राज्य का अंग घोषित कर दिया था। इस काल में चीन की संस्कृति मिंग राजाओं के हाथ में फल-फूल रही थी अतएव वहाँ से चित्रकला, कविता, दर्शन, वस्तुकला सभी कुछ जापान पहुँचा। किन्तु इस कलात्मक उन्नति के साथ-साथ उधर किसानों की तबाहियाँ भी बढ़ती जा रही थीं। कर-वृद्धि और गृह-युद्ध से उनकी दिनों-दिन बरबादी हो रही थी। अन्त में १६वीं शताब्दी समाप्त होते-होते तीन व्यक्तियों के प्रयत्न से जापान फिर सुसंगठित और संयुक्त हो उठा। इस प्रकार संयुक्त होकर जापान ने एक विराट् शक्ति संचय कर ली और कोरिया पर शीघ्र ही आक्रमण कर बैठा; किन्तु कोरियावालों ने जापानी जहाज़ी बेड़े को परास्त कर दिया और दोनों देशों के बीच के समुद्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। कोरियावालों ने एक प्रकार की नाव बनाई थी जिसे (Tortoise Boat) 'कच्छप नौका' कहते हैं। न्हीं नौकाओं से उन्होंने जापान के लड़ाक जहाज़ों को नष्ट किया था।

इसके बाद जापान के इतिहास में हम एक अद्‌भुत अध्याय आरम्भ होता हुआ देखते हैं। वहाँ के शासकों ने जान-बूझकर संसार से जापान को पूर्णतः अलग रखने की नीति अपनाई। विवश होकर १६२३ ई० में अँगरेज़ों ने वहाँ जाना बन्द कर दिया। अगले साल स्पेनिश लोग निर्वासित कर दिये गये और अन्त में १६३६ ई० में जापान का सारा बाह्य सम्बन्ध समाप्त हो गया। पोर्चगीज़ भी वहाँ से निकाल दिये गये और सभी जापानियों को यह चेतावनी दी गई कि यदि वे विदेश जायँगे या विदेशों से कोई भी सम्बन्ध रक्खेंगे तो उन्हें प्राण-दंड दिया जायगा। १६४० ई० में पोर्चगीज़ों ने पुनः व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की; किन्तु उसका कोई प्रभाव न पड़ा और जापानियों ने प्रस्ताव ले जानेवाले दल के अधिकांश व्यक्तियों को मार डाला।

लगभग २०० वर्षों से ऊपर जापान संसार से पूर्णतः अलग रहा, यहाँ तक कि पड़ोसी चीन और कोरिया से भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया। १८५३ ई० में अमेरिकनों का एक दल संयुक्तराष्ट्र के राष्ट्रपति का पत्र लेकर जापान पहुँचा और एक साल बाद शोगुन लोग कई बन्दर-गाह उन्हें व्यापार के लिए दे देने को राज़ी हो गये और स तरह फिर जापान का सम्बन्ध बाह्य संसार से स्थापित हो गया। यह समाचार पाकर अँगरेज़, डच और रूसी लोग भी आ धमके; किन्तु इसके साथ ही जापान में आन्तरिक कलह और गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गये। विदेशियों के सामने शोगुन लोगों ने अपने को सम्राट् कहा था यद्यपि तत्कालीन शोगुन सम्राट् क्या, लोकप्रिय शासक भी नहीं थे। अतएव उनके द्वारा सम्पन्न हुई विदेशी संधियों के विरुद्ध एक ज़बरदस्त आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। परिणाम हुआ एक भयंकर गृह-युद्ध, जिसमें कुछ विदेशी भी मारे गये। प्रतिशोध की भावना से विदेशियों ने भी जापान पर आक्रमण कर दिया। स्थिति अत्यन्त नाजुक हो उठी और १८६८ ई० में शोगुनों को विवश होकर पद-त्याग कर देना पड़ा। तत्काल एक दूसरा सम्राट् राज्यासीन हुआ। वह इस समय केवल १४ वर्षों का था। उसका नाम था सम्राट् मुत्शितो, उसने ४५ साल तक राज्य किया, उसका राज्यकाल "मैजी" या प्रबुद्ध शासनकाल कहलाता है और वास्तव में उसी शासनकाल में पाश्चात्य

देशों का अनुकरण करके जापान ने उन्नति करना प्रारम्भ किया। आज तो जापान एक ज़बरदस्त व्यावसायिक राष्ट्र तथा एक महान् शक्ति बन गया है।

अमेरिका का स्वांतन्त्र्य-संग्राम

१६२० में प्रोटेस्टेंट लोगों का एक दल इँग्लैंड से अमेरिका पहुँचा था, क्योंकि उन्हें इँग्लैंड के राजा जेम्स प्रथम की स्वेच्छाचारिता और धर्मान्धता के कारण कष्ट उठाने पड रहे थे। ये यात्री 'पिलीग्रम्स फादर्स' कहलाये। अमेरिका में वे लोग 'न्यू प्लाईमाउथ' नामक स्थान पर जहाज़ से उतरे। उनके बाद बहुतेरे अन्य योरपीय भी वहाँ गये और चारों ओर फैल गये। धीरे-धीरे अमेरिका में उनके उपनिवेश स्थापित हो गये। वहाँ न केवल अँगरेज़ बल्कि डच, जर्मन, डेन्स और फ्रांसीसी भी थे; किन्तु अधिक संख्या अँगरेज़ों की ही थी। डचों ने न्यूऐम्स्टर्डम नामक एक नगर बसाया था जो अँगरेज़ों के अधिकार में आकर आज का न्यूयार्क बन गया।

अमेरिका-प्रवासी अँगरेज़ ब्रिटिश सम्राट् और पार्लियामेंट का आधिपत्य स्वीकार करते थे। दक्षिणी उपनिवेशों का तो इँग्लैंड से और भी घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध था। १८ वीं शताब्दी तक पूर्वीय किनारे पर फ्रांस के आधिपत्य में १३ उपनिवेश हो गये थे। उत्तर में कनाडा था और दक्षिण में स्पेनिश अधिकारक्षेत्र। किन्तु यह भूलना न होगा कि उक्त उपनिवेश किनारे पर ही थे, जिनके परे पश्चिम में एक विशाल भूखंड पैसफ़िक सागर तक फैला हुआ था और जो उक्त १३ उपनिवेशों के संयुक्त क्षेत्रफल के १० गुना था। यह विशाल क्षेत्र योरपीयों के अधिकार में नहीं था। वह विभिन्न क़बीलों और जातियों का निवासस्थान और अधिकारक्षेत्र था, जिनमें प्रमुख शिक्विस जाति थी।

अठारहवीं शताब्दी के बीच फ्रांस और इँग्लैंड में सप्तवर्षीय युद्ध (१७५६ से १७६३ तक) चल रहा था। वह युद्ध न केवल योरप में बल्कि भारत और कैनाडा तथा अन्य जहाँ कहीं भी अँगरेज़ और फ्रांसीसी थे, सर्वत्र ही जारी था। उस युद्ध में इँग्लैंड विजयी रहा और उसे फ्रांस से संधि की शर्तों के अनुसार कैनाडा का देश प्राप्त हुआ, जिससे आगे चलकर

अमेरिका में इँग्लैंड का ही बोलबाला रह गया। धीरे-धीरे वहाँ आबादी बढ़ने लगी और व्यवसाय फैलने लगे। उस देश के मूल खानाबदोश निवासी आबाद होने को तैयार न हुए और न अँगरेज़ों के आधिपत्य में ग़ुलाम बनकर मज़दूरी करना ही उन्होंने स्वीकार किया। उन्होंने विदेशियों के सामने झुकने से मर जाना अच्छा समझा। और वास्तव में वे विदेशियों के दमन तथा अन्य परिस्थितियों के शिकार होकर निश्चिह्न हो गये। दूसरी ओर स्थिति यह थी कि व्यवसाय-वृद्धि के कारण मज़दूरों की सख़्त ज़रूरत पैदा हो गई थी। स्थानीय मज़दूर जब नहीं उपलब्ध हो सके तब अफ़रीका के अभागे अधिवासी फँसाकर वहाँ भेजे जाने लगे। ये अफ्रीकन निग्रो, वर्जिनिया, कैरोनिया और जार्जिया आदि दक्षिणी राज्यों में पहुँचाये गये और तम्बाक़ू की बोवाई में ग़ुलामों की तरह काम करने को बाध्य किये गये। इस नई व्यवस्था में अमेरिका के मूल निवासी, रेड इंडियनों का स्वभावतः कोई स्थान नहीं था, क्योंकि उन्होंने नई परिस्थितियों से समझौता नहीं किया। अतएव वे पश्चिम की ओर खिसकने लगे। उनमें आपस में भी घोर विरोध रहा करता था।

पहले इँग्लैंड के बड़े ज़मीन्दारों और राजों का उक्त उपनिवेशों में बहुतेरा स्वार्थ नहीं था। सप्तवर्षीय युद्ध के बाद अमेरिकन उपनिवेशों में अधिक अधिकार प्राप्त करने की विशेष रूप से कोशिश की गई। अँगरेज़ी पार्लियामेंट में उस समय तक इँग्लैंड के भू-स्वामियों का ही बहुमत था; उन्होंने उपनिवेशों पर शासन स्थापित करने में सम्राट् की सहायता की। व्यवसायों पर नये टैक्स लगाये गये जिस पर उपनिवेशवालों ने आपत्ति की और ज़ोरदार विरोध किया। उन्होंने नारा बुलन्द किया कि "बिना प्रतिनिधित्व दिये कर नहीं लगाये जा सकते।* इधर विभिन्न उपनिवेशों के लोग सप्तवर्षीय युद्ध में कन्धे से कन्धा मिलाकर फ़ांसीसी सेनाओं से लड़ चुके थे जिसके कारण उनमें पारस्परिक मेल-जोल और सम्पर्क बढ़ चला था। वे युद्ध की कला में भी निपुण हो चुके थे अतएव अँगरेज़ी सरकार की कठोरता के सामने भी वे झुकने को तैयार न हुए। अन्त में १७७३ ई० में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी (जिसमें

* "No Taxation Without Representation."

इँग्लैंड के भू-स्वामियों और धनपतियों का बहुत बड़ा हिस्सा था) की बनाई हुई चाय अमेरिकन उपनिवेशों में बलपूर्वक खपाने को भेजी गई, तब बात बहुत बढ़ गई। परिस्थिति संगीन हो उठी। इसमें स्वभावतः ही उपनिवेशों के स्थानीय चाय-व्यवसाय को धक्का लगने की आशंका थी, अतएव उपनिवेशवालों ने विदेशी चाय का बहिष्कार करना निश्चय कर लिया। १७७३ ई० में जब बोस्टन के बन्दरगाह पर ईस्ट इंडिया कम्पनी की चाय उतारने का प्रयत्न किया गया, तो उपनिवेशवालों ने उसका प्रबल विरोध किया। बहुतेरे लोग मूल अमेरिकन अधिवासियों के छद्म-वेष में जहाज़ पर चढ़ गये और चाय के गट्ठों को उठा-उठा कर समुद्र में फेंकना प्रारम्भ कर दिया। १७७५ ई० में अँगरेज़ों और अमेरिकन उपनिवेशों के बीच युद्ध छिड़ गया। यह एक दिलचस्प बात है कि लड़ाई छिड़ जाने और बहुतेरे रक्तपात हो जाने के बाद भी उपनिवेशों के नेता इँग्लैंड के सम्राट् जार्ज द्वितीय को अपना राजा मानते रहे थे। इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में उपनिवेश के लोगों ने अपनी आज़ादी के लिए नहीं बल्कि कुछ थोड़े-से सुधारों को प्राप्त करने और शिकायतों को दूर कराने के लिए ही लड़ाई प्रारम्भ की थी। उन्होंने केवल ब्रिटिश पार्लियामेंट का उपनिवेशों के ऊपर टैक्स लगाने के अधिकार का विरोध किया था।

यद्यपि उपनिवेशवालों के पास कोई फ़ौज न थी फिर भी उन्होंने शीघ्र ही एक बड़ी सेना खड़ी कर ली और जार्ज वाशिंगटन उनका प्रधान सेनापति बना। उन्हें प्रारम्भ से ही सफलता मिलने लगी, जिसका कारण उनकी सैनिक शक्ति न होकर तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियाँ ही थीं। सप्तवर्षीय युद्ध में पराजित फ़्रांसीसियों ने अँगरेज़ों से बदला लेने के लिए उपनिवेशवालों का साथ दिया। उधर स्पेन ने भी इँग्लैंड के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। अन्त में अमेरिकन उपनिवेश बिना अधिक प्रयास के ही स्वतन्त्र हो गये। १७८२ ई० में युद्ध समाप्त हो गया और लड़ाकू देशों के बीच पेरिस में एक सन्धि हो गई।

इस प्रकार अमेरिकन उपनिवेशों का वह स्वतन्त्र जनतन्त्र पैदा हो गया जिसे आज हम अमेरिका का संयुक्त राष्ट्र करके जानते हैं। बहुत दिनों तक उपनिवेशों में आपस में ईर्षा-द्वेष, कलह-विग्रह चलता रहा और सभी

अपने-अपने को स्वतन्त्र समझते रहे; पर धीरे-धीरे उनमें एक राष्ट्रीयता का भाव भी आ गया। न केवल इतना ही; बल्कि संयुक्त-राज्य के प्रजातन्त्र ने एक संघ-शासन स्थापित करके संसार में एक नई शासन-व्यवस्था प्रचलित की। अमेरिका में योरप और एशिया के देशों की तरह सरदार-तन्त्र का अवशेष नहीं था और न वहाँ खानदानी भू-स्वामी ही थे। अतएव प्रजातन्त्र के लिए वहाँ उपयुक्त भूमि अवश्य थी; किन्तु नई श्रेणी-सभ्यता (Class Culture) ने शीघ्र ही फैलकर वास्तविक जनतन्त्र का होना वहाँ भी असंभव कर दिया। स्वाधीनता के युद्ध के समय वहाँ की आबादी चार लाख से भी कम थी जो १९३० तक बढ़कर १२ करोड़ तीस लाख हो गई।

जार्ज वाशिंगटन संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका का प्रथम राष्ट्रपति हुआ। जनतन्त्र के अन्य सेनानायक, बेन्जामिन फ्रैंकलिन, पैट्रिक हेनरी, रैमसे जयल्स, मेडीसन आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। बेन्जामिन फ्रैंकलिन प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता भी था।

हम निग्रो लोगों का थोड़ा उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। कुछ वर्षों बाद दक्षिणी और उत्तरी राज्यों में गृह-युद्ध हुआ जिसके फलस्वरूप ग़ुलामी प्रथा का तो अन्त हो गया; लेकिन फिर भी निग्रो लोगों की समस्या अमेरिका में आज भी अपनी अधिकांश कुरूपताओं के साथ विद्यमान है।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति

अब हम उस भीषण क्रान्ति का वर्णन करने जा रहे हैं, जिसने आधुनिक संसार के विकास में बहुत बड़ा काम किया है। आज यह निसंदिग्ध स्वीकृत हो चुका है कि आर्थिक परिस्थितियों के कारण क्रान्तियाँ होती हैं। अधिकार-मद से मत्त राज्याधिकारियों का ख़याल है कि क्रान्ति के जनक कुछ थोड़े से आन्दोलनकारी होते हैं, यद्यपि यह सही है कि आन्दोलन-कारी तत्कालीन परिस्थितियों से असन्तुष्ट रहनेवाले लोग होते हैं जो स्वभावतः परिवर्त्तन के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। एशिया और योरप के सभी देशों में १७ वीं और १८ वीं शताब्दी में किसानों के विद्रोह हुए, जो

निर्दयता और घोर अत्याचार-पूर्वक दबा दिये गये। यद्यपि किसानों के सामने कोई स्पष्ट उद्देश्य नहीं था; फिर भी उन्हें उनकी असह्य परिस्थितियों ने विद्रोह करने को विवश किया; किन्तु स्पष्ट उद्देश्य के अभाव में उन्हें असफलता ही मिली।

बाद को आनेवाली फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति में हम एक विचारधारा पाते हैं, एक स्पष्ट उद्देश्य पाते हैं। हम फ़्रांस के राजाओं की अयोग्यता और विलासिता की ओर इशारा कर चुके हैं। सर्वसाधारण दरिद्रता की चक्की में पिस रहे थे। वाल्टेयर और रूसो आदि की चिन्तनधाराओं से निकले हुए मानवतावादी (Humanitarian) विचार भी क्रान्ति के लिए उत्तेजक और सहायक सिद्ध हुए। इस तरह सुव्यवस्थित क्रान्ति के लिए दोनों आवश्यक आधार, आर्थिक दुरवस्था और उद्देश्य की स्पष्टता पैदा हो गये। लुई १५वें ने १७१५ में राज्याधिकार अपने हाथ में लिया था और उसने ५९ वर्षों तक राग-रंग में मस्त रहकर राज्य किया था। उसने देश की दुरवस्था की कोई परवाह न की। अँगरेज़ राजा चार्ल्स द्वितीय की फाँसी से भी उसने यह नहीं समझा कि जाग्रत् जन-शक्ति के लिए राजतन्त्र के स्वेच्छाचार असह्य हो उठे थे। १७७४ ई० में उसका पोता लुई १६वाँ सिंहासनासीन हुआ, वह पितृविहीन था। वह अपनी स्त्री के हाथ की कठपुतली था जो जनसाधारण से घृणा करती थी। इस राज-दम्पति ने राजतन्त्र को जनता की दृष्टि में और भी घृणित तथा गर्हित बना दिया। उसके राज्यकाल के प्रारम्भ में ही भूखों के दंगे (Hunger riots) हुए, जो कई वर्षों तक लगातार जारी रहे। फिर थोड़े ही दिनों बाद किसानों में प्रबल विद्रोह फूटे। असंख्य जनता ने भिखमंगों का पेशा अख़्तियार कर लिया। किसान केवल अन्न के ही भूखे नहीं थे; वे भूमि भी चाहते थे, जिनसे वे सामन्त सरदारों द्वारा वंचित कर दिये गये थे। सामन्तशाही की व्यवस्था में सरदार लोग अधिकांश भूमि के बलात् स्वामी बन गये थे जिनसे किसान अपनी ज़मीनें वापस चाहते थे। वे लोग सामन्त-प्रथा और सामन्तों को अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखने लगे थे।

जब किसानों की ऐसी अवस्था थी उस समय भी सम्राट् और सम्राज्ञी जनता से पैसा चाहते थे। ख़ज़ाने में धन नहीं रह गया था और ऋण

बढ़ता जा रहा था। अन्त में लुई १६वें ने कोई मार्ग न देखकर मई, १७८९ में 'स्टेट्स जेनरल' को आमंत्रित किया। यह संगठन पार्लमेंट के ढंग का था, जिसमें सरदार लोग, पादरी लोग तथा मध्य वर्ग के लोग शामिल थे। किसानों का उसमें कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। किन्तु 'स्टेट्स जनरल' की बैठक का कोई फल न निकला। मध्यवर्ग के प्रतिनिधि लोगों ने नया कर लगाने का घोर विरोध किया। राजा ने क्रोधित होकर उन लोगों को सभा-भवन से निकलवा दिया। प्रतिनिधि लोगों ने बाहर आकर अपनी सभा करनी चाही। राजा ने उसमें भी बाधा उपस्थित करने की चेष्टा की; किन्तु उसके सैनिकों ने स्वयं उसकी अवज्ञा की। लुई इसके लिए तैयार नहीं था, वह घबरा उठा। सैनिकों की अवज्ञा क्रान्ति की परिपक्वतम भूमिका का द्योतक होती है, अतः घबराहट में लुई ने विदेशी सैनिकों से अपने लोगों पर गोली चलवाने का षड़यंत्र करना चाहा। जनता इस बात से अत्यन्त उत्तेजित हो उठी। उसने १४ जुलाई, सन् १७८९ को खुले रूप में विद्रोह कर दिया और पेरिस के पुराने बन्दीगृह 'बैसाइल' पर अधिकार स्थापित कर लिया तथा सभी क़ैदियों को मुक्त कर दिया।

'बैसाइल' का पतन इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उसी दिन फ़्रांस की इतिहासप्रसिद्ध राज्यक्रान्ति का सूत्रपात हुआ था। इस तरह १७८९ से आरम्भ होकर १७९४ तक, यानी पाँच वर्षों तक भूखी-नंगी जनता प्रलय का दृश्य उपस्थित करती रही। फ़्रांस में कई राजनीतिक दल थे जो क्रान्ति के प्रारम्भिक दिनों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए लड़ते रहे। राजतंत्रवादी दल लुई १६वें को अनियन्त्रित राजा के पद पर क़ायम रखने के पक्ष में था। दूसरे नरमदलवाले लिबरल लोग थे, जो एक विधान के भीतर राजा को सीमित शक्ति प्रदान करने को तैयार थे। तीसरे थे प्रजातंत्रवादी लोग, और इसके अतिरिक्त उग्र प्रजातंत्रवादी भी थे। इन दलों के भीतर और बाहर भी व्यक्तिगत रूप से अधिकार प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे हुए अन्य कई महत्त्वाकांक्षी लोग थे। किन्तु इन सब दलों और व्यक्तियों के पीछे था अपार नंगे-भूखों का समुदाय, जो अपनी ही

श्रेणी के अज्ञात नेताओं की सलाह से जीवन और मृत्यु की बाज़ी खेल रहा था।

राजतंत्रवादियों तथा राजा ने षड्यंत्र किये; पर स्वयं समाप्त हो गये। स्टेट्स जेनरल का स्थान लिया नेशनल एसेम्बली ने, जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण दल था नरमदली लिबरलों का। उनका लीडर मिरान्यू था। वह दो वर्षों तक एसेम्बली पर अधिकार स्थापित किये रहा। क्रान्ति की प्रारम्भिक सफलताओं से प्रोत्साहित होकर उसने कई साहसपूर्ण घोषणायें कीं तथा कई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी किये। एसेम्बली ने क़ानून बनाकर सामन्तशाही का अन्त करके 'जनता के अधिकारों' की घोषणा की। चर्चों की अथाह सम्पत्ति ज़ब्त कर ली गई। प्राचीन सामन्त-अदालतों (**Feudal Courts**) के स्थान पर सुव्यवस्थित अदालतें क़ायम हुई। किन्तु इतने सब सुधारों के होते हुए भी जनता की आशाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकना नेशनल एसेम्बली के लिए सम्भव नहीं हो सका। इन सब परिवर्तनों से किसानों की भूख तनिक भी शान्त न हुई और न नगरों के जन-साधारण की ही सन्तुष्टि हो सकी। क्रान्ति की दुर्दमनीय धारा रुकती-सी प्रतीत हुई और वास्तव में एसेम्बली में बहुमत रखनेवाले मध्यवर्ग की शक्तियों के उद्देश्य उक्त परिवर्तनों से पूरे हो गये थे, अतएव उन्होंने क्रान्ति को रोकने की भी चेष्टायें शुरू कर दीं। न केवल इतना ही बल्कि उन्होंने लुई के साथ समझौता भी कर लिया और शीघ्र ही क्रान्ति के अग्रणी किसानों पर गोलियों की बाढ़ दगने लगी। मध्यवर्गवालों का नेता मिरान्यू वास्तव में राजा का गुप्त सलाह-कार भी बन गया था।

एसेम्बली के द्वारा क्रान्ति का उद्देश्य पूरा होता न देखकर पेरिस की जनता ने क्रान्तिकारी शक्तियों के लिए एक दूसरा आधार तैयार किया। यह आधार था पेरिस का कम्यून—म्युनिसिपैलिटी। इसी बीच 'बैसाइल' के पतन की वर्षगाँठ आ पहुँची, इसमें पेरिस की जनता ने ख़ूब आनन्द-उत्सव मनाया। १७९० और ९१ ई० में क्रान्ति की अवस्था यह थी कि उधर एसेम्बली अपनी क्रान्तिकारी मनोवृत्ति खो चुकी थी और इधर पेरिस की जनता और देश के किसान क्रान्ति की उमंगों से भरे हुए थे; इसलिए

या तो क्रान्ति के अवरुद्ध मार्ग को शीघ्र ही खुलना था या फिर क्रान्ति का अन्त हो जाना था। अकस्मात् १७९१ ई० की एक घटना ने क्रान्ति का भाग्य निर्णय कर दिया। यह घटना थी राजा का छद्म भेष में राज्य से निकल भागने की चेष्टा। संयोग से जब वह सीमान्त पर पहुँचा तो कुछ किसानों ने उसे पहचान लिया और पकड़ कर पेरिस वापस लाये। इस घटना के बाद ही प्रजातंत्र की भावनायें बढ़ने लगीं। 'मारात' जो क्रान्तिकाल का एक महान् व्यक्ति था, राज्य-सत्ता की भर्त्सना करने के कारण अधिकारियों का कोप-भाजन बना। अन्त में सितम्बर, १७९१ में नेशनल एसेम्बली भंग कर दी गई और उसकी जगह 'लेजिस्लेटिव एसेम्बली' की स्थापना हुई, यद्यपि यह भी जनता की क्रान्तिकारी मनोवृत्तियों की प्रतिनिधि संस्था न होकर एक नरम विचारों की ही संस्था थी। १७९२ ई० में आस्ट्रिया और प्रशा ने फ़्रांस पर आक्रमण किया। विदेशी सेनायें फ़्रांस की सीमा में घुस आईं और फ़्रांसीसियों को पराजित करने लगीं। ऐसा समझने के लिए पर्याप्त कारण है कि फ़्रांस के राजा और राज्यतंत्रवादियों ने षड्यंत्र करके इस बाह्य आक्रमण को निमंत्रित किया था ताकि क्रान्ति की शक्तियाँ संत्रस्त होकर दब और मिट जायँ। ऐसी संकटापन्न परीक्षा के समय में पेरिस के क्रान्तिकारी कम्यून ने नेतृत्व ग्रहण किया और विद्रोहियों के ख़िलाफ़ मार्शल-ला की घोषणा कर दी। मार्शल-ला की घोषणा के चिह्न-स्वरूप उन्होंने 'लाल झंडा' फहरा दिया। न केवल इतना ही बल्कि १० अगस्त, १७९२ को उन्होंने राजप्रासाद पर भी धावा बोल दिया। राजा ने अपने स्वामिभक्त रक्षकों के द्वारा उन पर गोलियों की वर्षा कराई; किन्तु जनता की विजय हुई और कम्यून ने राजा को राज्यच्युत करके क़ैद करने के लिए एसेम्बली को विवश कर दिया।

क्रान्ति की पूर्णता के लिए राजा का राज्यच्युत हो जाना तथा क़ैद हो जाना ही काफ़ी नहीं था। जनता ने सभी देश-द्रोहियों, विश्वासघातकों और संदिग्ध आचरणवाले व्यक्तियों को गिरफ़्तार करके जेल में भरना प्रारम्भ किया, जिन्हें मुक़दमे का स्वाँग करने के बाद मरवा डाला जाता था। सके साथ ही सितम्बर में जनता की फ़ौज ने गुनाई के युद्ध में

आक्रमणकारी आस्ट्रियन और प्रशन फ़ौजों को भी पूर्णतया परास्त करके भगा दिया। २१ सितम्बर, १७९२ को राष्ट्रीय महासम्मेलन (National Convertion) जुड़ा। यह 'नेशनल एसेम्बली' के स्थान पर पैदा हुई संस्था थी। यद्यपि यह पहले की दोनों एसेम्बलियों से उग्र विचारों का संगठन था फिर भी कम्यून के विचारों से यह भी बहुत पिछड़ा हुआ था। उसने जनतंत्र की घोषणा की। फिर लुई (१६वें) का मुक़दमा प्रारम्भ हुआ और वह २१ जनवरी १७९३ को क़त्ल कर डाला गया। उस समय इकट्ठी भीड़ को सम्बोधित करते हुए क्रान्ति के एक महान् नेता 'दाँतों' ने कहा था :—

"योरप के राजा हमें चुनौती देते हैं, हम उनके आगे एक राजा का सिर फेंकते हैं।"

लुई की मृत्यु के बाद सम्मेलन ने दो कमेटियाँ बनाई और उन्हें बहुत-से अधिकार प्रदान किये। १७९६ के सितम्बर में एक भयंकर क़ानून बना जिसमें जन-साधारण की ओर से अन्य संदिग्ध व्यक्तियों को फाँसी पर चढ़ा दिया जाता था। सम्मेलन के दो सदस्य भी इस क़ानून के पंजे से न बच सके। धीरे-धीरे सम्मेलन पर उक्त दो कमेटियों का अधिकार हो गया और उन्होंने पेरिस के कम्यून का विरोध करना शुरू किया। अधिकार-मद से आदर्श-च्युत उक्त कमेटियों की क्रान्ति-विरोधी भावनाओं का कम्यून की क्रान्तिकारी भावनाओं से संघर्ष होने लगा। अन्त में क्रान्ति की रीढ़—पेरिस के कम्यून—का विनाश हो गया, जिसके बाद से सम्मेलन का निर्विघ्न और एकच्छत्र शासन इन कमेटियों के हाथों में आगया।

कम्यून के दमन के बाद घटनायें तेज़ी से आगे बढ़ने लगीं। अप्रैल, १७९४ में 'दाँतों' का क़त्ल, क्रान्ति के अन्त की सूचना थी। क्रान्ति के अग्रणी उस नर-व्याघ्र का अन्त हो गया और एक गुट (Clique) का शासन क़ायम हो गया। शत्रुओं से घिरे हुए और जनता से असम्बद्ध इस गुट ने भय का शासन स्थापित कर दिया। ४६ दिनों तक यह भय का राज्य क़ायम रहा और अन्त में १७ जुलाई, १७९४ को तख्ता पलट गया। दूसरे ही दिन वह अत्याचारी स्वयं वध-स्थलों पर ले जाये जाने लगे जो जनता के हितैषियों को फाँसी के तख्तों पर लटकाने लगे थे।

इस तरह क्रान्ति के बाद क्रान्ति-विरोधी शक्तियाँ बारी-बारी से उभरती और दबती रहीं और १५ महीनों के बाद अक्टूबर, १७९५ में सम्मेलन-भंग हो गया। पाँच आदमियों की एक समिति शासनारूढ़ हुई। चार साल तक इस समिति का शासन क़ायम रहा। जिसके बाद, यद्यपि क्रान्ति समाप्त हो गई; किन्तु जनतंत्र की विचार-धारा योरप में फैल गई और "मनुष्य के अधिकारों की घोषणा" आगामी तिहास के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ बन गई।

नैपोलियन बोनापार्ट

नैपोलियन बोनापार्ट फ़्रांस की राज्यक्रान्ति के अन्तिम दिनों में संसार के रंगमंच पर आविर्भूत हुआ था। पाँच व्यक्तियों की एक समिति जिन दिनों फ़्रांस में शासन कर रही थी उन दिनों कई असफल विद्रोह भी हुए थे। उन विद्रोहों में से एक का दमन करके प्रजातंत्र की सेनाओं के एक लेफ्टिनेन्ट ने अपनी सैनिक योग्यता का परिचय दिया था; और वही लेफ्टिनेन्ट नैपोलियन बोनापार्ट के नाम से इतिहास में अमर हो गया है।

नैपोलियन का जन्म १७६९ ई० में हुआ था। वह फ़्रांसीसी न होकर कार्सिकन था और उसकी मातृ-भाषा थी इटैलियन। वह गरीब मा-बाप का लड़का था। जेब-खर्च के अभाव में वह अपना अधिकांश समय अपने फ़्रांसीसी सैनिक स्कूल में एकान्त-अध्ययन में बिताता था। अपनी किशोरावस्था में भी वह साम्राज्यों के विजय करने के स्वप्न देखा करता था। १७९५ ई० के पहले तक यह जान सकना किसी प्रकार सम्भव नहीं था कि उसके जीवन की धारा किस दिशा में प्रवाहित हो उठेगी, मगर १७९५ में जब फ़्रांस में पंचों (समिति) का शासन स्थापित हुआ तब उसको अवसर मिला और उसे दक्षिण-फ़्रांस में दमो नामक स्थान से अँगरेज़ों को मार भगाने का कार्य सौंपा गया। उसने इस कार्य को ख़ूबी से पूरा किया और नैतिक पतन का शिकार फ़्रांसीसी सेना का सेनापति बन गया। उत्तरी इटली में वह सारडीनिया और आस्ट्रिया की फ़ौज के खिलाफ़ लड़ने को भेजा गया। वहाँ भी उसे अप्रत्याशित सफलता मिली और उसने दोनों देशों की सेनाओं को अलग-अलग पराजित किया।

वह प्रारम्भ में प्रजातंत्र का घोर पक्षपाती था। उसने स्वयं इटली के प्रजातंत्र की स्थापना की थी। इटली में उसने एक सुन्दर और शानदार दरबार क़ायम किया था, जहाँ स्थानीय सुन्दरियों और सरदारों का जमघट रहता था। प्रजातंत्र की तरफ़ झुकाव होते हुए भी उक्त एक ही घटना से इसका संकेत मिल जाता है कि विलासिता की ओर उसकी घोर प्रवृत्ति थी, जिसकी सन्तुष्टि अनियंत्रित शासन प्राप्त करने ही पर सम्भव हो सकती थी।

उसका दूसरा क़दम था भारत और मिस्र की विजय के लिए आज्ञा माँगना। स्वेज़ की नहर अभी नहीं बन पाई थी और मिस्र तुर्कीवालों के हाथ में था; फिर भी नेलसन के सेनापतित्व में एक ब्रिटिश जंगी बेड़ा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था जो दुर्भाग्य से उसे रोक सकने में चूक गया। नैपोलियन बेरोक मिस्र पहुँच गया और तुर्की सेना को उसने शीघ्र ही तितर-बितर कर दिया। इसके थोड़े ही दिनों बाद नैपोलियन का समुद्री बेड़ा नष्ट हो गया और वह भारत के लिए स्थलमार्ग से रवाना हुआ किन्तु 'एको' नामक स्थान पर अँगरेज़ों ने उसका मार्ग अवरुद्ध कर दिया। नैपोलियन के लिए मिस्र लौट जाने के सिवा और कोई चारा नही रह गया। लौट कर तुरंत सारी सेना को वहीं छोड़ पाँच छोटे जहाज़ों में अपने कुछ आदमियों को साथ लेकर फ़्रांस के लिए रवाना हो गया।

उसकी मिस्र आदि की असफलतायें देश में नहीं मालूम थीं, इसलिए पहले की भीषण लड़ाइयों में विजय प्राप्त कर चुकने के कारण, लोगों के मन में उसका सम्मान अभी तक बना हुआ था। यद्यपि फ़्रांस का शासन जनतंत्रात्मक हो गया था, किन्तु पाँच व्यक्तियों की समिति के पीछे एक ही मस्तिष्क काम करने लगा और वह था नैपोलियन का मस्तिष्क। नैपोलियन शीघ्र ही प्रथम सलाहकार (First Counsel) बन बैठा।

चूँकि फ़्रांस चारों ओर शत्रुओं से घिरा हुआ था इसलिए उसे एक सैनिक शासक की आवश्यकता थी और शीघ्र ही प्रथम सलाहकार ने अपनी विजयों के द्वारा अपने अस्तित्व की अनिवार्यता सिद्ध कर दी।

वास्तव में नैपोलियन इस कार्य के लिए पूरी तरह योग्य भी था और उसके सौभाग्य से शत्रु-सेनाओं की बागडोर पुराने ढंग के बूढ़े सेनापतियों के हाथ में थी। १८०० ई० में उसने आल्प्स पर्वत को पार किया और आस्ट्रिया को जीत लिया। उसने मारंगो में एक और विजय प्राप्त की जिससे इटली फिर उसके अधिकार में आगया। इस प्रकार घर और बाहर की प्राप्त सफलताओं ने उसे रचनात्मक कार्य करने को प्रोत्साहित किया। वह निगेशियन प्रजातंत्र का अन्त तो कर ही चुका था, राइन नदी के पश्चिम की ओर स्थित प्रदेशों को जीतकर उसने नाममात्र के होली रोमनसाम्राज्य का भी अन्त कर दिया। इन्हीं दिनों वेस्ट इंडीज़ में उपनिवेश बनाने की भी उसने योजना बनाई, किन्तु अकस्मात् उसने अपने विचार बदल दिये और १८०३ ई० में लुइसियाना प्रदेश को संयुक्त-राज्य के हाथों बेच दिया। एक बार फिर उसने शासन-व्यवस्था में सुधार किया। फ्रांस में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित की। ४० हज़ार निर्वासित परिवारों को वापस लौटने की आज्ञा दी और उन्हें सरकारी पद पर अधिष्ठित होने के योग्य ठहरा दिया। उसने क़ानून बनाने के लिए भी एक कमेटी बनाई, जिसने 'कोड नैपोलियन' या 'नैपोलियन क़ानून' के नाम से एक विधान की रचना की। इसकी विशेषता यह थी कि इसमें क़ानून के सामने हर एक व्यक्ति की समानता मान्य की गई थी; और यह न केवल फ़्रांसवालों के लिए ही, बल्कि फ़्रांस के बाहर के लोगों के लिए भी।

१८०० से १८०४ ई० तक की अवधि में नैपोलियन का सौभाग्य-सूर्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। उसने मई १८०४ में सम्राट् की उपाधि धारण कर ली और दिसम्बर में उसका राज्याभिषेक भी हो गया। पोप ने स्वयं पेरिस आकर उसका विधिवत् राज्याभिषेक किया। नैपोलियन घोर महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। राजाधिराज बनने के बाद भी, सिकन्दर, जूलियस सीज़र और चंगेज़ख़ाँ बनने की लालसा अभी उसकी शेष थी। उसने अपने मन में यह अनुमान लगाया कि उसकी महत्त्वाकांक्षा का प्रमुख विरोधी इँग्लैंड ही बनेगा। उसने शीघ्र ही 'बोलोने' के पास एक विशाल सेना इकट्ठी की। इस बीच आस्ट्रिया, रूस, स्वेडन और

इँगलैंड आपस में सन्धि कर चुके थ । नैपोलियन के लिए यह असह्य हो उठा, उसने अगस्त १८०५ में बिजली की तरह आस्ट्रिया पर धावा कर दिया। आस्ट्रिया पराजित हो गया और नवम्बर में नैपोलियन ने वियना में प्रवेश किया। वहाँ से वह आस्ट्रिया और रूस की संयुक्त शक्तियों को हराने के लिए उत्तर की तरफ़ बढ़ा। आस्ट्रलिस्ट नामक स्थान पर उसे फिर सफलता मिली। प्रशा ने यद्यपि अभी तक तटस्थता ही प्रदर्शित की थी किन्तु नैपोलियन ने उसे भी नहीं छोड़ा। अन्त में उसे भी १८०६ में पराजित करके अपने अधीन कर लिया। वह शीघ्र ही पूर्व की ओर मुड़ा और विजय पर विजय प्राप्त करता गया। ब्रिटेन की आर्थिक नाकेबन्दी करके उसे झुकने को विवश करने के विचार मे उसने अपने सभी अधिकृत प्रदेशों के बन्दरगाहों को ब्रिटिश जहाज़ों के लिए बन्द कर दिये। ब्रिटेन ने भी उसका जवाब उसी तरह दिया। १८०८ ई० तक नैपोलियन पूर्ण स्वेच्छाचारी शासक बन चुका था। उसने पेरिस नगर को नया बनाने में काफ़ी धन व्यय किया और मध्य-कालीन पेरिस को सौंदर्य का आदर्श तथा आधुनिक नगर बनाने का श्रेय उसी को है।

१८०८ में नैपोलियन ने स्पेन के राजा को गद्दी से उतार कर अपने छोटे भाई को वहाँ का राज्याधिकार प्रदान किया। १८०९-१० तक नैपोलियन के सौभाग्य का सितारा अन्तिम उँचाई पर पहुँच गया। उसने हालैंड पर अधिकार कर लिया और रूस को छोड़कर सारे योरप का एकच्छत्र शासक बन गया। अन्त में रूस को भी विजय करने की लिप्सा ने ज़ोर मारा और उसी प्रयत्न में नैपोलियन का अन्त हुआ। रूस की सीमा पर उसकी ४ लाख सेनायें एकत्र थीं। रूसियों ने गुरिल्ला-नीति का अवलम्बन किया। जब मास्को पराजित हो गया तब रूसियों ने वहाँ आग लगा दी। विजेताओं को विवश होकर भागना पड़ा। इसी बीच मध्य योरप में उसके सभी शत्रुओं नें संयुक्त होकर स्वाधीनता प्राप्त करने के नाम पर ६ लाख सेना इकट्ठी कर रक्खी थी और लीथिनुक के स्थान में नैपोलियन को उनके हाथों गहरी हार खानी पड़ी । वह पेरिस छोड़कर भाग चला। अन्त में पकड़ा गया और एल्बा द्वीप में निर्वासित कर दिया

गया, किन्तु फिर भी उसने एक बार अन्तिम रूप से अपने भाग्य की परीक्षा की। निर्वासन से वह भाग आया और १८१५ में एक विशाल सेना तैयार करके वाटरलू नामक स्थान पर दुश्मनों से उसने अन्तिम मोर्चा लिया; किन्तु फिर भी पराजय ही उसके हाथ लगी। वह फिर पकड़ा गया और 'सेंट हेलना' की जेल में बन्द कर दिया गया, जहाँ उसे अपने जीवन के शेष छः वर्ष बिताने पड़े।

इस तरह एक महान् महत्त्वाकांक्षी जीवन का अन्त हुआ।

ग्यारहवाँ प्रकरण

महायुद्ध के पूर्व १०० वर्ष

नैपोलियन का पतन हुआ १८१४ ई० में और गत संसारव्यापी महायुद्ध प्रारम्भ हुआ १९१४ में। यह १०० वर्ष संसार के इतिहास में शीघ्रगामी उत्क्रान्तियों का काल रहा है। नैपोलियन के पतन के बाद योरप के विजेता राजाओं ने वियना की कांग्रेस में संसार के नक़शे को नये सिरे से बनाया। रूस के ज़ार, आस्ट्रिया और प्रशा के राजतंत्रों और इँगलैंड के सम्राट्तंत्र के प्रतिनिधियों ने फ़्रांस के बूर्बों राजा के साथ मिलकर राग-रंग, मदिरा और नर्तकियों के बीच अपने आधिपत्यों की दुबारा स्थापना की। फ़्रांस का नवोदित प्रजातंत्र कुछ दिनों के लिए समाप्त हो चला। हालैंड और बेल्जियम नीदरलैंड के राज्यतंत्र में शामिल कर दिये गये। पोलैंड का बँटवारा प्रशा, आस्ट्रिया और रूस के राजाओं ने कर लिया। वेनिस और उत्तरी टली आस्ट्रिया में शामिल हो गये। इटैली के कुछ भाग और फ़्रांस का कुछ भाग मिलकर सार्डिनिया का राज्यतंत्र बना। इस तरह फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति ने राजाओं और सम्राटों के लिए जो बिभीषिका उत्पन्न कर दी थी उसका क्षण भर के लिए नाश हो गया। न केवल इतना ही; बल्कि रूस के ज़ार, आस्ट्रिया के सम्राट् और प्रशा के राजा ने मिलकर "पवित्र-सन्धि-सम्बन्ध" (The Holy Alliance) क़ायम किया जिससे उनका और उनके जैसे अन्य राजाओं का अस्तित्व सदा अक्षुण्ण बना रहे।

योरप के पूर्व में टर्की बहुत दुर्बल हो गया था और धीरे-धीरे उसका पतन हो रहा था। ग्रीस ने १८२१ ई० में टर्की-साम्राज्य के ख़िलाफ़ विद्रोह किया और आठ साल के युद्ध के बाद उसने इँगलैंड, फ़्रांस और रूस की सहायता से अपनी खोई स्वतंत्रता प्राप्त की।

इधर फ्रांस में बूर्बों राजवंश के दमन से तंग आकर लोगों ने उसका अन्त कर दिया और लुई फ़िलिप नामक एक व्यक्ति को राजा निर्वाचित किया, जो सीमित अधिकारों के साथ वैधानिक राजा बना। वह १८४८ तक राज्य करता रहा। बेल्जियम में भी १८३० में विद्रोह हुआ और बेल्जियम तथा हालैंड अलग-अलग हो गये। जर्मनी, इटली और पोलैंड में भी विद्रोह हुए किन्तु दबा दिये गये।

एटलान्टिक के उस पार अमेरिका का संयुक्त-राज्य पश्चिम की ओर फैल रहा था। योरप की अस्वस्थ प्रतियोगिताओं और युद्धों से अलग अपनी विस्तृत भूमि पर वहाँ के अधिवासी उन्नत से उन्नततर हो रहे थे। फिर भी अमेरिका पर योरप की घटनाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। जब नैपालियन ने स्पेन को जीत कर अपने भाई को राजगद्दी पर बैठाया था, उसी समय दक्षिणी अमेरिका के स्पेनिश उपनिवेशों ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया और इस तरह उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली। दक्षिणी अमेरिका की स्वाधीनता का महान् नेता 'साइम-बोलीवर' आज भी 'स्वातंत्र्य-प्रदाता' (Librator) कहलाता है और दक्षिण-अमेरिका का बोलोविया प्रजातंत्र उसी के नाम पर स्थापित हुआ था। बहुत दिनों तक योरप के राजा स्पेन की सहायता करके दक्षिणी अमेरिका के स्वाधीनता-आन्दोलनको कुचल देने की कोशिश करते रहे; किन्तु संयुक्त-राज्य ने हस्तक्षेप करके योरपीय राजाओं की दखलन्दाज़ी बन्द कर दी। ब्राज़ील का विशाल देश पुर्तगालवालों का उपनिवेश था; उसने भी उसी समय विद्रोह किया।

एशिया में भी विभिन्न परिवर्तन हो रहे थे। भारत में अँगरेज़ लोग प्रधान शक्ति बन गये थे। उन्होंने जावा पर भी अधिकार कर लिया था। टीपू सुलतान और मैसूर का पतन हो चुका था और १८१९ में मराठों की दुर्दमनीय शक्ति भी अन्ततः नष्ट हो गई थी। अँगरेज़ों का आसाम पर क़ब्ज़ा हो चुका था और इस तरह भारत में अँगरेज़ लोग शक्तिशाली होते जा रहे थे। पूर्व में आराकान और बरमा तथा पश्चिम में रणजीतसिह के नेतृत्व में सिक्खों का राज्य स्वतंत्र रह गया था। उधर रूस मध्य-एशिया तेजी से फैलता जाता था। छोटे राज्यों को दबाता और दमन करता

हुआ वह अफ़ग़ानिस्तान की सीमा तक पहुँच गया था जिससे भारत के अँगरेज़ भयभीत हो उठे थे। चीन में मंचू-राज्य-वंश अत्यन्त दुर्बल हो गया था और योरपीय व्यापारिक कम्पनियाँ राज्यसत्ता पर अधिकार करने के लिए प्रयत्नशील थीं।

व्यावसायिक क्रान्ति अपने साथ स्वभावतः यान्त्रिक क्रान्ति भी लाई। मनुष्य के जीवन में यंत्रों का महत्त्व अधिकाधिक बढ़ चला। किन्तु यह समझना भूल होगी कि उक्त क्रान्तियाँ सारे संसार में एक साथ और एक ही ढंग से हुईं। सच तो यह है कि पश्चिमी योरप और विशेषकर इँग्लैंड एवं अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र पर ही उनका प्रभाव विशेष पड़ा, जिसका परिणाम यह आ कि योरपीय और अमेरिकन लोग अधिक साधन-सम्पन्न होने के कारण लगभग सारे संसार के भाग्य-विधाता बन बैठे। इसके साथ ही साम्राज्यवाद का जन्म हुआ है और निश्चय ही वह अन्ध-राष्ट्रवाद का अन्तिम परिणाम था। इस प्रकार आक्रमणात्मक राष्ट्रवाद जब साम्राज्यवाद बन गया तब आक्रान्त और पराजित राष्ट्रों में—समूचे एशिया और अफ़्रीका आदि में—एक रक्षात्मक राष्ट्रवाद का जन्म हुआ।

व्यावसायिक और यान्त्रिक क्रान्तियों के फलस्वरूप एक नई सभ्यता, एक नया समाज बन चला, जिसे श्रेणी सभ्यता (Class Culture) और श्रेणी समाज कहते हैं। सामन्त-प्रथा का अन्त हो चुका था; किन्तु सामन्त और ग़ुलाम का भेद सम्पत्तिजीवी और श्रमजीवी के रूप में विद्यमान ही रहा। फ़्रांस की राज्यक्रान्ति के विचारकों ने जो समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व का अस्पष्ट नारा लगाया था वह क्रान्ति के असफल हो जाने पर भी मनुष्यता के हृदय से लुप्त नहीं हो सका। १९वीं शताब्दी के मध्य में एक महान् विचारक जर्मनी में पैदा हुआ जिसे समाजवाद अथवा समष्टिवाद का पिता कहा जाता है। उसका नाम था कार्ल मार्क्स। वह एक क्रियाशील दार्शनिक और विचारक था। उसने राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने की प्रणाली संसार के सामने उपस्थित की और उसके द्वारा संसार की बुराइयों का निराकरण करने का मार्ग दिखाया। अपने सहयोगी एँगल्स के सहयोग

से 'कम्यूनिस्ट-मैनीफ़ेस्टो' निकाला जिसमें अपने विचारों की रूप-रेखा पेश की। उसके बाद उसने अपनी महान् पुस्तक 'कैपिटल' लिखी, जिसमें उसने संसार के इतिहास का वैज्ञानिक विवेचन किया और बतलाया कि समाज किस दिशा में विकसित हो रहा है और उस विकासक्रम को किस तरह तेज़ बनाया जा सकता है।

इसी युग में एक और महान् वैज्ञानिक हुआ जिसने मनुष्य की विचार-धारा में घोर विप्लव उपस्थित किया। वह था डार्विन, जिसकी "सम्प्रदायों का मूल" (Origin of Species) ने एक तहलक़ा मचा दिया था। उसने उदाहरणों से सिद्ध किया कि पौधे और पशु किस तरह प्राकृतिक प्रक्रियाओं के सिलसिले में विकसित हुए हैं। इतिहास का हमारा यह अध्ययन भी डार्विन के विकासवाद के आधार पर ही चल रहा है।

विश्वव्यापी महायुद्ध (१९१४-१८)

व्यावसायिक उन्नति के साथ साथ राष्ट्रों में पारस्परिक प्रतियोगिता भी प्रारम्भ हुई; जो पूँजीवादी व्वयस्था का स्वाभाविक परिणाम था। चूँकि बाज़ार और कच्चे माल की आवश्यकता दिनों दिन बढ़ती गई, इसलिए पूँजीवादी शक्तियों में एक संसारव्यापी होड़ मच गई, जिसमें स्वभावतः कुछ को अधिक और कुछ को कम सफलता मिली; किन्तु किसी भी राष्ट्र की प्यास नहीं बुझी। जब इस सम्बन्ध में सभी राष्ट्रों से अधिक भाग्यशाली इँगलैंड की भी सन्तुष्टि न हा सकी तब भला अन्य राष्ट्रों का क्या पूछना ? जर्मनी ने विज्ञान, शिक्षा और व्यवसाय के क्षेत्रों में ख़ूब उन्नति कर ली थी और अब उसके साथ ही एक विशाल सेना भी वहाँ संगठित हो गई थी। किन्तु जब वह संसार के रंगमंच पर व्यवसाय-प्रतियोगिता में शामिल होने को आया तब संसार के अधिकांश बाज़ार और कच्चे माल के क्षेत्र अन्य राष्ट्रों द्वारा अधिकृत हो चुके थे। फिर भी कठोर परिश्रम और आत्म-संयम ने जर्मनी को एक सर्वशक्तिमान् राष्ट्र बना दिया। अतएव इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अपनी सफलताओं और अपनी शक्ति-वृद्धि से प्रोत्साहित होकर वह अपनी उन्नति के मार्ग

में लगाई गई नाका-बन्दी को तोड़ने को उद्यत हो जाता। जर्मन-साम्राज्य का नेता था प्रशा और प्रशा में ज़मींदार तथा सैनिकवर्ग बड़ा ही शक्तिशाली था। कैसर विल्हेल्म द्वितीय वहाँ का सम्राट् था। उसने घोषित करना शुरू किया कि जर्मनी संसार का अग्रणी होने जा रहा है। इसके साथ ही जो नारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने दिया था या फ़ाशिस्त, जिंगो अथवा नात्सी साम्राज्यवाद दे रहे हैं, क़ैसर ने भी वही संसार को सभ्य बनाने का 'जर्मन मिशन' का नारा बुलन्द किया।

फ़्रांस और जर्मनी पुराने शत्रु थे। बाल्कन भी एक बारूद का ढेर-सा था। जर्मनी ने पश्चिमी एशिया में अपना प्रभुत्व बढ़ाने के विचार से तुर्की से मित्रता कर ली और क़ुस्तुनतुनिया से बग़दाद तक एक रेलवे लाइन बनाने की योजना तैयार की गई। इसी योजना को लेकर राष्ट्रीय ईर्ष्याओं का सूत्रपात हुआ; क्योंकि अन्य राष्ट्र नहीं चाहते थे कि प्रस्तावित रेलवे लाइन पर जर्मनी का अधिकार हो। इस तरह युद्ध दिन-दिन निकट आता गया और योरप में युद्ध का भय सर्वत्र ही छा गया। आत्म-रक्षा के लिए राष्ट्रों ने संगठन प्रारम्भ किये और योरप के महान् राष्ट्र दो त्रिगुटों में बँट गये। जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली एक तरफ़, इँग्लैंड, फ़्रांस और रूस दूसरी तरफ़।

योरप में बीसवी सदी का प्रादुर्भाव आँधी-पानी के साथ हुआ, पेचीदगियाँ बढ़ती गई और युद्ध की तैयारियाँ ज़ोरों से होने लगीं। अन्ततः २८ जून, १९१४ ई० को योरप के विशाल बारूदख़ाने में आग भी लग ही गई। आर्क ड्यूक फ़र्डीनेन्ड नामक आस्ट्रिया का युवराज बोसोनियाँ की राजधानी सेराजेवा घूमने गया था। वहाँ वह और उसकी स्त्री दोनों घूमते हुए किन्ही अज्ञात हाथों द्वारा मार डाले गये। आस्ट्रिया की सरकार उत्तेजित हो उठी और उसने सर्विया की सरकार को उक्त घटना का उत्तरदायी ठहराया। सर्विया की सरकार ने अपनी निर्दोषिता प्रकट की, जिसके बावजूद भी आस्ट्रिया ने सर्विया पर धावा कर दिया। यहाँ तक कि सर्विया के सरकार की क्षमा-प्रार्थना भी स्वीकार न की गई और १८ जुलाई, १९१४ को लड़ाई का सूत्रपात होगया। बूढ़ा सम्राट् फ़ान्सिस जोज़फ़, जो १८२८ से आस्ट्रिया के राजसिंहासन पर विराजमान था,

अपने मंत्रियों के हाथ का खिलोना-मात्र था। उसका मंत्री युद्ध के लिए उतावला हो रहा था। योरप में कोई भी अन्य राष्ट्र तत्काल युद्ध नहीं चाहता था, यहाँ तक कि क़ैसर ने भी दबी ज़बान से उसे रोकने की चेष्टा की थी। किन्तु योरप पहले ही से युद्ध की बिभीषिका से संत्रस्त तथा बचाव की तत्परता (Defensive Preparedness) की अवस्था में था; अतएव शीघ्र ही चारों ओर से फ़ौजें जमा होने लगीं और अगस्त, १९१४ के प्रारम्भिक दिनों में योरप के सभी देशों में विशाल सेनाओं का जमाव और उनके 'मार्च' होने लगे। जनता को देशभक्ति और राष्ट्रीय सम्मान के नाम पर उकसाया गया और वास्तव में राष्ट्रीय जोश की एक ऐसी बाढ़ आई कि पूँजीवादी-युद्ध के विरोध के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध ढुलमुल मार्क्सवादियों (*द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय के अधिकांश सदस्य) का भी आसन हिल गया और उन्होंने उक्त पूँजीवादी-युद में अपने-अपने राष्ट्रों का साथ देकर देशभक्ति का परिचय देना शुरू कर दिया।

इस युद्ध में एक ओर टर्की, जर्मनी और आस्ट्रिया थे और दूसरी ओर फ़ांस, इँग्लैंड, रूस आदि। ज्यों ही युद्ध प्रारम्भ हुआ प्रत्येक देश की सरकारों ने सत्य का दमन शुरू कर दिया। युद्ध का अनेक प्रकार के मिथ्या प्रचारों का बहाना बना लिया गया। व्यक्तियों की निजी स्वाधीनता अत्यन्त सीमित हो गई। जैसे-जैसे युद्ध की अवधि बढ़ती गई तैसे-तैसे अधिकाधिक देश उसमें शामिल होते गये। दोनों पक्षों ने गुप्त रूप से रिश्वतें देकर विभिन्न तटस्थ राष्ट्रों को अपनी ओर खींचने

---

*कार्लमार्क्स ने १८६५ में मज़दूर कार्यकर्ताओं का एक अन्तराष्ट्रीय संगठन स्थापित किया था, जो मार्क्सवादियों और अराजवादियों के संघर्ष के कारण १८७२ में भंग हो गया। १८८३ में मार्क्स की तो मृत्यु हो गई; किन्तु उसके प्रमुख साथी एञ्जेल्स की प्रेरणा से १८८९ मे पुनः एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ स्थापित हुआ, जिसमें संसार की सभी समाजवादी पार्टियाँ शामिल हुईं। मार्क्स द्वारा स्थापित संगठन को प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय (First International) तथा दूसरी को द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय (Second International) कहते हैं। उसका नारा था कि 'संसार के श्रमिको! संगठित होकर पूँजीवादी सभ्यता का अन्त कर दो।'

के प्रयत्न प्रारम्भ किये. और चूँकि इँग्लैंड और फ़्रांस की धन-शक्ति बढ़ी हुई थी अतएव स्वभावत: अधिकांश तटस्थ राष्ट्रों ने उन्हीं का साथ देना अधिक युक्तिसंगत समझा। जर्मनी के पुराने मित्र इटली को भी मित्र-राष्ट्रों ने अपनी ओर मिला लिया और उससे यह वादा किया कि एशियामाइनर तथा अन्यान्य उपनिवेश युद्ध समाप्त होने पर उसे दिये जायँगे। दूसरी गुप्त संधि मित्रराष्ट्रों ने रूस से की जिसमें उसे क़ुस्तुनतुनिया देने का वादा किया गया था। सार्वजनिक घोषणाओं में इस गुप्त संधि का कोई वर्णन नहीं आने पाया था और सम्भवत: इस रहस्य पर कभी भी प्रकाश पड़ने की नौबत न आती यदि रूस के बोल्शेविकों ने शक्ति प्राप्त करने के बाद उक्त गुप्त संधि का रहस्योद्घाटन न किया होता। अन्तत: इँग्लैंड और फ़्रांस की ओर लगभग एक दर्जन देश शामिल हो गये। जापान, चीन, रूमानिया, ग्रीस, पुर्तगाल, सर्विया, बेल्जियम, अमेरिका का संयुक्त-राष्ट्र, रूस, इटली, फ़्रांस, ब्रिटेन और उसके साम्राज्य तथा अन्य छोटे-मोटे राज्य। इधर जर्मनी की तरफ़ से जर्मनी, आस्ट्रिया, टर्की और बल्गेरिया। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका ने युद्ध के तीसरे वर्ष में भाग लेना आरम्भ किया। प्रत्यक्ष ही है कि इतने अधिक देशों के धन और जन-शक्ति का सहारा पाकर मित्र-राष्ट्रों की शक्ति खूब बढ़ गई और जर्मनी चारों ओर से शत्रुओं-द्वारा घिर गया। जर्मनी के जो थोड़े से सहायक थे भी वे दुर्बल और पतनोन्मुख राष्ट्र थे जो उसकी अधिक सहायता कर सकने में असमर्थ थे। फिर भी जर्मनी चार वर्षों तक लड़ता रहा।

मित्रराष्ट्रों की ओर आक्रमणों की प्रथम मार फ़्रांस को ही भुगतनी पड़ी और युद्ध छिड़ने के एक महीने के भीतर ही ऐसा प्रतीत होने लगा कि पेरिस का पतन हो जायगा। वास्तव में फ़्रेंच सरकार बूर्डयू जाने की तैयारी भी कर चुकी थी। उधर रूसी सेनायें पूर्वी प्रशा को रौंद रही थीं। फ़्रांस और इँग्लैंड में रूसी सेनाओं का बड़ा भरोसा किया जाता था; लेकिन सचाई यह थी कि रूसी सैनिकों के पास न अच्छे हथियार थे और न अच्छी सरकार। अकस्मात् जर्मनी उन पर टूट पड़ा और एक विशाल रूसी सेना को पूर्वी प्रशा की झीलों और दलदलों में फँसाकर विनष्ट कर

दिया। इस युद्ध का विजेता हिंडनबर्ग एक महान् सेनापति था जो बाद को जर्मन प्रजातंत्र का प्रथम राष्ट्रपति हुआ। लड़ाई के पूर्वी-क्षेत्र की ओर खिसकने से पश्चिमी मोर्चे पर कुछ साँस लेने का अवकाश मिला। फ़्रांस ने जर्मनी को युद्ध-क्षेत्र में ५० मील पीछे हटाने में सफलता प्राप्त की और इस तरह पेरिस की रक्षा हो गई। उधर पूर्वी मोर्चे पर रूसी फौजें बड़े पैमाने पर क्रियाशील थीं। पूर्वी-क्षेत्र की हानियों और मृत्यु-संख्या का अन्दाजा लगाना अत्यन्त दुष्कर है। इसका यह अर्थ नहीं कि पश्चिमी मोर्चे पर कम हानियाँ हुई। पश्चिमी और पूर्वी मोर्चे के अतिरिक्त युद्ध के और भी कई रंगमंच बन गये थे। तुर्की ने स्वेज़ नहर पर आक्रमण करने की चेष्टा की किन्तु उसमें उसे सफलता न मिल सकी। ब्रिटेन ने टर्की के कई स्थानों पर आक्रमण किया—ईराक़ में, फिलिस्तीन में, और बाद में सीरिया में भी—किन्तु सीधा टर्की पर आक्रमण १९१५ की फ़रवरी में ही हो सका, जब फ़्रांसीसी जंगी बेड़े ने डार्डेनलीज़ के जलडमरूमध्य की ओर से क़ुस्तुनतुनिया को जीतने की चेष्टा की थी। इस योजना में उन्हें सफलता न मिल सकी। पूर्वी और पश्चिमी अफ़्रीक़ा के जर्मन-उपनिवेशों पर भी मित्र-राष्ट्रों ने आक्रमण किया और चूँकि जर्मनी से वे उपनिवेश बहुत दूरी पर स्थित थे, जहां सहायता पहुँच सकना सम्भव नहीं था, वे पराभूत हो गये। चीन के जर्मन-अधिकृत प्रदेशों को जापान ने बड़ी आसानी से छीन लिया। इटली बहुत दिनों तक युद्ध की प्रगति को देखता रहा और अन्त में मित्र-राष्ट्रों की विजय के लक्षण देखकर उनकी ओर सम्मिलित हो गया। दो वर्षों तक इटली और आस्ट्रिया की फ़ौजें बिना किसी परिणाम के लड़ती-भिड़ती रहीं, पर अन्त में जब जर्मन-फ़ौजें पहुँचीं तब इटालियन सेना बुरी तरह परास्त हो गई। यहाँ तक कि जर्मन तथा आस्ट्रियन सेनायें उसका पीछा करती वेनिस तक पहुँच गईं।

अक्टूबर १९१५ में बल्गेरिया ने जर्मनी का पक्ष ग्रहण किया और आस्ट्रो जर्मन-सेना के साथ मिलकर सर्विया को तहस-नहस कर दिया। रूमानिया भी दो वर्षों तक युद्ध की गति देखता रहा; अन्त में अगस्त १९१६ में मित्र-राष्ट्रों की ओर शामिल हो गया,

जिसका फल उसे शीघ्र ही भुगतना पड़ा। जर्मनी की सेना ने उसे बुरी तरह कुचल डाला। इस प्रकार जर्मनी और आस्ट्रिया की शक्ति ने पोलैंड, सर्विया, रूमानिया, बेल्जियम और फ़ांस के कुछ भाग पर अधिकार स्थापित कर लिया। किन्तु प्रमुख युद्ध पश्चिमी मोर्चे पर चलता ही रहा। मित्रराष्ट्रों की समुद्री शक्ति बढ़ गई थी, यद्यपि युद्ध के प्रारम्भिक दिनों में जर्मनी के जंगी जहाज़ों ने काफ़ी सरगर्मी दिखलाई थी और उनके पनडुब्बे जहाज़ बराबर मित्र-राष्ट्रों के जहाज़ों को डुबाते रहे। इसमें जर्मनी को इतनी सफलता मिली थी कि एक समय इँग्लैंड को रसद पहुँचना दुष्कर होने लगा था और अकाल पड़ने की आशंका उपस्थित हो गई थी। जर्मनी ने हवाई हमले भी किये। इस तरह दिनों पर दिन और महीनों पर महीने बीतते गये और संसार में धन-जन का विनाश एक अश्रुत-पूर्व पैमाने पर होता रहा। जर्मनों ने ज़हरीली गैसों का भी प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।

किन्तु शीघ्र ही पलड़ा दूसरी ओर भी झुका। जर्मनी और आस्ट्रिया में भी आर्थिक नाकेबन्दी के कारण घोर अकाल उपस्थित हो गया और १९१६ ई० के अन्त में तो मित्र-राष्ट्रों की प्रत्यक्ष सफलता दृष्टिगोचर होने लगी। मई १९१६ में उत्तरी सागर में एक भयंकर समुद्री युद्ध हुआ, जिसमें ब्रिटेन को ज़बरदस्त विजय प्राप्त हुई। इधर आर्थिक नाकेबन्दी से जर्मनी को रसद पहुँचना असम्भव हो रहा था, यहाँ तक कि जर्मनी ने घबरा कर कुछ व्यक्तिओं को संधि का वायुमंडल तैयार करने के लिए भी भेजा; किन्तु आपस की गुप्त संधियों से मित्र-राष्ट्रवाले इतने बँधे हुए थे कि जर्मनी के पूर्ण पराजय से कम में उनकी महत्त्वाकांक्षायें पूरी नहीं हो सकती थीं। फल यह हुआ की निराश होकर जर्मनी के नेताओं ने अपने पनडुब्बे जहाज़ों के आक्रमण को खूब उग्र रूप प्रदान किया और स तरह इंग्लैंड की भी आर्थिक नाकेबन्दी शुरू कर दी। १९१७ की जनवरी में उन्होंने घोषणा की कि इँग्लैंड के आस-पास तटस्थ राष्ट्रों के जहाज़ भी पहुँचेंगे तो डुबो दिये जायँगे। इससे संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका, जो इँग्लैंड की पूरी आर्थिक सहायता कर रहा था, बहुत उत्तेजित हो उठा और अप्रैल १९१७ में स्वयं लड़ाई में शामिल हो गया।

इस बीच में एक और घटना घट चुकी थी। १५ मार्च १९१७ में प्रथम रूसी क्रान्ति हो गई और जार राज्यच्युत कर दिया गया। इस तरह रूस युद्ध से लगभग अलग हो गया और जर्मनी को पूर्वीय मोर्चे की चिन्तायें समाप्त हो गईं। दो महीने बाद ही दूसरी क्रान्ति आई जिससे सोवियटों और बोलशेविक लोगों के हाथ में शक्ति आगई, जिन्होंने शुरू से ही युद्ध-विरोधी नारे लगाने प्रारम्भ किये। 'द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय' के उग्र कार्यकर्ताओं ने लेनिन के नेतृत्व में युद्ध-विरोधी कार्य जारी रक्खे थे और उन्हीं के नेतृत्व में रूसी क्रान्ति घटित हुई थी। ऐसा प्रतीत हुआ कि रूस की क्रान्ति से जर्मनी को लाभ होगा, क्योंकि उसे केवल पश्चिमी मोर्चे पर ही लड़ना रह जायगा किन्तु रूस के क्रान्तिकारियों ने जो युद्ध के विरोध की आवाज़ उठाई थी उसका असर जर्मनी के सैनिकों पर भी खूब गम्भीर रूप से पड़ने लगा था और जर्मनी इस कारण आन्तरिक दृष्टि से अत्यन्त कमज़ोर हो गया था। यह बात जर्मन-सैनिक अधिकारियों से छिपी न रह सकी; अतएव उसके निराकरण के लिए उन्होंने मार्च १९१८ में सोवियट रूस पर धावा करके उसे एक घोर अपमानजनक संधि स्वीकार करने को विवश किया क्योंकि रूस का सोवियट शासन अभी चन्द दिनों का बच्चा था, जिसे किसी भी मूल्य पर शान्ति चाहिए थी ताकि वह अपनी जड़ दृढ़ कर सके। उन्हीं दिनों जर्मनी ने पश्चिमी मोर्चे पर भी अन्तिम बार विजय के लिए कठोरतम प्रयत्न किये। मार्शल फोश १९१८ के मध्य में मित्र-राष्ट्रों की सेना के प्रधान सेनापति बनाये गये और अक्टूबर के अन्त तक युद्ध की समाप्ति भी निकट आ गई। जर्मनी थक कर चूर हो गया था, अतएव संधि की बातें शुरू हो गईं।

४ नवम्बर १९१८ को कील में जर्मनी के 'नौ-सैनिकों' ने विद्रोह किया जिसके पाँच दिनों बाद ही जर्मन-प्रजातंत्र की घोषणा कर दी गई। कैसर चुपके से जर्मनी से हालैंड को खिसक गया। ११ नवम्बर १९१८ को दोनों पक्षों ने शस्त्र त्याग कर दिये जिसका आधार थीं संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन-द्वारा निर्धारित १४ शर्तें। इस तरह युद्ध समाप्त हुआ। इस युद्ध में अमेरिकन विद्वानों के अनुमान से मित्र-

राष्ट्रों का कुल व्यय ४०,९९,९६,००,००० पौंड* और जर्मन-पक्ष का कुल व्यय १५,१२,२३,००,००० पौंड हुआ था। इसके अतिरिक्त दोनों पक्षों के मिलाकर लगभग १,००,००,००० जाने हुए व्यक्ति मरे थे, ३०,००,००० व्यक्ति लापता हो गये थे जिन्हें मृत समझ लिया गया, २,००,००,००० सैनिक घायल हुए थे; ३०,००,००० व्यक्ति बन्दी बने थे, ९०,००,००० बच्चे अनाथ हुए थे; ५०,००,००० स्त्रियाँ विधवा बनी थीं और १,८०,००,००० व्यक्ति निराश्रय तथा बेघरबार के हो गये थे। यह था राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता के नाम पर लड़ा गया गत विश्वव्यापी महायुद्ध।

महायुद्ध के बाद

हम ऊपर कह चुके हैं कि कैसर जर्मनी छोड़कर हालैंड भाग गया और जर्मनी में प्रजातंत्र की घोषणा कर दी गई। जर्मनी की इस दुरवस्था से लाभ उठाकर कठोर शर्तों पर शस्त्र-त्याग (Armistice) की घोषणा की गई। संधि की शर्तें तय होने लगीं। जर्मनी की सेनाओं को न केवल जीते हुए प्रदेश ही छोड़ने पड़े बल्कि अल्ज़ाक, लोरेन और राइन के किनारे तक, जर्मनी का एक भाग भी छोड़ना पड़ा। जर्मनी को अपने बहुतेरे जंगी जहाज़ और पनडुब्बे भी मित्रराष्ट्रों को सौंप देने पड़े। इस तरह जर्मनी का साम्राज्य और प्रशा का सैनिक गर्व समाप्त हो गया। १९१९ में पेरिस में विजयी मित्रराष्ट्रों ने संधि-सम्मेलन प्रारम्भ किया। संसार भर के पददलितों और स्वातंत्र्य-वंचित लोगों के प्रतिनिधि पेरिस में इकट्ठे हो गये। आयर्लैंड, मिस्र और अरब आदि स्वाधीनता के लिए लड़नेवाले देशों के प्रतिनिधि भी वहाँ पहुँचे। संसार का नया बँटवारा होने जा रहा था और सच्चे स्वातंत्र्य-प्रेमी लोगों के प्रतिनिधियों से लेकर वंचक और स्वार्थी महत्त्वाकांक्षी तक वहाँ उपस्थित थे। इसके साथ ही दूसरी ओर सामाजिक क्रान्ति की घटनाओं से योरप का वायुमंडल घनीभूत हो रहा था। ऐसी

* पौंड लगभग १४ रुपयों के बराबर होता है।

सामाजिक पृष्ठ-भूमि की छाया में प्रारम्भ हुआ पेरिस का संधि-सम्मेलन। इतने बड़े सम्मेलन के लिए रोज़ रोज़ इकट्ठा होना, और सभी प्रतिनिधियों का वादविवाद में सहूलियत से भाग लेकर सम्मेलन की कार्यवाही को तेज़ी से आगे बढ़ाना दुष्कर समझ कर उसे कई उपसमितियों में विभक्त कर दिया गया। फिर कुछ ही दिनों बाद सम्मेलन का भाग्य 'दस की समिति' (Conncil of Ten) के हाथों में रह गया। आगे चलकर केवल पाँच बड़ों (Five Big) के ही हाथों में शक्ति केन्द्रीभूति हो गई। ये पाँच बड़े थे—संयुक्तराष्ट्र अमेरिका, इँग्लैंड, फ़्रांस, इटली और जापान। धीरे धीरे जापान भी अलग हो गया तथा अन्त में इटली भी; और इस तरह संसार का भाग्य-निर्णय अमेरिका, ब्रिटेन और फ़्रांस के ही हाथों में रह गया। इन तीन देशों का प्रतिनिधित्व करते थे राष्ट्रपति विल्सन, लायड जार्ज और क्लिमेन्सू। संसार ने उच्च आदर्शों की घोषणाओं के कारण राष्ट्र-पति विल्सन का खूब सम्मान किया। लोग उन्हें नवीन स्वतंत्रता का अग्रदूत समझने लगे। लायड जार्ज सदा के अवसरवादी व्यक्ति थे, यद्यपि आदर्श की बातें बघारने में पीछे रहना वे भी नहीं चाहते थे। क्लिमेन्सू आदर्शों और पवित्र नारों में विश्वास करनेवाला आदमी नहीं था। उसका एकमात्र ध्येय था, येन केन प्रकारेण फ़्रांस के प्राचीन शत्रु जर्मनी से प्रतिशोध लेना, उसे पीस डालना। इस तरह तीन बड़ों के बीच रस्साकशी होती रही और उनके मानसिक धरातल के पीछे सदा ही विद्यमान रही रूस की भूमि में घटते हुए अभूतपूर्व परिवर्तनों की बिभीषिका जिसे सोवियट, पूँजीवादी शासन और सभ्यता का विनाश करके जन्म दे रहा था। यद्यपि रूस पेरिस के संधि-सम्मेलन म शामिल नहीं किया गया था फिर भी वहाँ के सोवियट शासन का अस्तित्व पेरिस में इकट्ठे हुए संसार के सभी पूँजीवादी राष्ट्रों के लिए प्रबल चुनौती बना हुआ था।

अकस्मात् क्लिमेन्सू ने लायड जार्ज को मिलाकर उनकी सहायता से अपने मन की सारी शर्तें तै करवा लीं। आदर्शवादी विल्सन को केवल राष्ट्र-संघ का खिलौना देकर प्रसन्न कर लिया गया। अन्त में ४४०

उपधाराओं के साथ वार्साई का सन्धि-पत्र तैयार हुआ, जिस पर जर्मनी को हस्ताक्षर करने की आज्ञा दी गई। नवीन जर्मन-प्रजातंत्र के प्रतिनिधियों ने इसका ज़ोरदार विरोध किया; पर विवश होकर अन्तिम दिन उन्हें हस्ताक्षर कर ही देना पड़ा।

मित्रराष्ट्रों ने आस्ट्रिया, हंगरी, वेल्जियम और टर्की के साथ अलग-अलग नई सन्धियाँ कीं। टर्की की सन्धि को यद्यपि अन्तिम ख़लीफ़ा ने स्वीकार कर लिया था; किन्तु कमालपाशा के प्रबल विरोध ने उसे आगे चलकर समाप्त कर दिया। वार्साई की सन्धि का एक फल यह हुआ कि अफ़रीक़ा के जर्मन-उपनिवेशों को मित्रराष्ट्रों ने आपस में बाँट लिया, जिसमें सर्वोत्तम भाग ब्रिटेन को मिले। योरप में कई नये राष्ट्र उग आये जिसमें रूस की वे जातियाँ शामिल थीं. जो ज़ार के समय में स्वाधीनता के लिए सतत प्रयत्नशील रहीं और जिन्हें सोवियट-शासन नें स्वतंत्र कर दिया था। आस्ट्रिया और हंगरी का विशाल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और वहाँ आस्ट्रिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया, पोलैंड, यूगोस्लाविया आदि के नये और पुराने राष्ट्र, छोटे-बड़े होकर नये रूपों में उठ खड़े हुए। पश्चिमी एशिया में टर्की के साम्राज्य की साधन-सम्पन्न भूमि ने योरप की शक्तियों को हमेशा से ललचाया था। युद्ध के दिनों में अरबवालों को टर्की के विरुद्ध विद्रोह करने को अँगरेज़ों ने इस वादे पर उकसाया था कि अरब, फ़िलिस्तीन और सीरिया का एक स्वतंत्र संयुक्त राष्ट्र स्थापित किया जायगा। किन्तु सफलता मिलते ही ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की आँखों के सामने एक मध्य-पूर्वीय-साम्राज्य (Middle-Eastern Empire) का स्वर्णिम स्वप्न नाच उठा, जिसका विस्तार होता भारत से मिस्र तक। यह स्वप्न कुछ असम्भव भी नहीं था, क्योंकि १९१९ में फ़ारस, ईराक़, फ़िलिस्तीन, अरब का कुछ भाग और मिस्र सभी ब्रिटिश सैनिकों के हाथ में थे। किन्तु दुर्भाग्य से पृष्ठभाग में सोवियट-शासन और सामने उठते हुए कमालपाशा के क्रान्तिकारी तूफ़ानों ने इस स्वप्न को भंग कर दिया।

वार्साई की सन्धि ने जर्मनी को अपराधी क़रार दिया और उसे निःशस्त्र होने की आज्ञा दी। पुलिस के कार्य के लिए केवल उसे थोड़ी-सी

सेना रखने की अनुमति प्राप्त हो सकी। सारी जलसेना उसे मित्र-राष्ट्रों के सुपुर्द कर देनी पड़ी। इसके अतिरिक्त जर्मनी को क्षतिपूर्ति-स्वरूप एक बहुत बड़ा धन देने को बाध्य किया गया। अन्त में राष्ट्रपति विलसन का खिलौना राष्ट्र-संघ भी पैदा हुआ। यह स्वतंत्र राष्ट्रों का एक संघ होनेवाला था, जिसका उद्देश्य था संसार के राष्ट्रों में भौतिक और बौद्धिक सहयोग पैदा करके सम्मान और न्याय के आधार पर भावी युद्धों का निराकरण करना। राष्ट्र-संघ में एक बना एसेम्बली विभाग, जिसमें संसार के सभी राष्ट्रों को प्रतिनिधित्व मिला; और दूसरा हुआ कौंसिल, जिसमें महान् राष्ट्रों को ही प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। हाँ, उसमें एसेम्बली द्वारा निर्वाचित कुछ ओर सदस्यों के लिए जाने की व्यवस्था अवश्य कर दी गई। जेनेवा में उसका एक सेक्रेट्रियट और केन्द्र बना। उसकी देख-रेख में एक अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-आफिस क़ायम हुआ। हेग में अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की एक स्थायी अदालत भी क़ायम की गई और अन्तर्राष्ट्रीय-बौद्धिक-सहयोग के लिए भी एक समिति की स्थापना की गई। इन सबकी उपयोगिताओं और अनुपयोगिताओं को घटनाओं ने संसार के सामने आज स्पष्टतया प्रदर्शित कर दिया है। उस पर कुछ भी कहना व्यर्थ है।

महायुद्ध का सबसे प्रमुख और सबसे महान् फल या प्रतिक्रिया जो हुई वह थी रूस की श्रमिक-क्रान्ति। ज़ारशाही के अत्याचार से तंग आई जनता ने २०वीं सदी के प्रारम्भ से ही क्रान्ति के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था। १९०५ में एक अस्थायी क्रान्ति हुई, जिसके बाद महायुद्ध के दिनों में मार्क्स के सिद्धान्तों के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार और महान् पंडित लेनिन के नेतृत्व में जो दूसरी और तीसरी क्रान्तियाँ हुई उन्होंने न केवल रूस की आन्तरिक स्थिति परिवर्तन कर दी, बल्कि उसने सारे संसार में एक नये युग का सूत्रपात किया। पूँजीवादी सभ्यता और श्रेणी-समाज को भंग करके उसने श्रमजीवीवर्ग का अधिनायकतंत्र क़ायम करके भावी समाज के सच्चे जनतंत्र की स्थापना की ओर क़दम बढ़ाया। ज़ारशाही रूस का साम्राज्य क्रान्ति के बाद 'सोवियट समाजवादी प्रजातंत्र संघ' बन गया। संसार की सभी पूँजीवादी शक्तियों ने उसके अस्तित्व के मार्ग

में रोड़े अटकाये। घर और बाहर दोनों जगह सोवियट शासन को श्रेणी-संस्कृति के कर्णधारों से लोहा लेना पड़ा और वास्तव में इतने विरोधों और इतनी कठिनाइयों के होते हुए भी उसका जीवित रह जाना एक महान् आश्चर्य है और है भावी समाज का निर्माण करनेवाले शक्तिशाली ऐतिहासिक उपादानों की एक प्रबल अभिव्यक्ति। सोवियट-प्रणाली जार-साम्राज्य के समस्त एशियाई भागों में फैल गई, जो भारत की सीमा के पास तक पहुँचता है। अलग-अलग सोवियट प्रजातंत्र स्थापित हुए और सभी मिलकर संघ-बद्ध हो उठे। यह संघ योरप और एशिया के एक विस्तृत भूमि पर स्थित है जो संसार के समूचे क्षेत्रफल का छठवाँ भाग है। इतना होते हुए भी साइबेरिया और मध्य-एशिया बहुत ही पिछड़े हुए प्रदेश थे, इसलिए सोवियट शासन की महत्ता और भी खुलकर प्रकट हुई तब, जब उसकी आर्थिक योजनाओं ने उक्त पिछड़े प्रदेशों को भी अत्यन्त शीघ्रता से समुन्नत और वैभवशाली भू-भाग बना दिया। शिक्षा और व्यवसाय में वे प्रदेश संसार के अत्यन्त उन्नत देशों से भी आगे बढ़ गये। रूस के उद्योगीकरण ने वहाँ विशाल कारखानों और बड़े-बड़े फ़ार्मों की सृष्टि कर दी।

इधर इटली में एक नई शक्ति पैदा होने लगी। मज़दूर-समाज के नेताओं के एक दल की अवसरवादिता और अदूरदर्शिता ने युद्ध-द्वारा पैदा की गई परिस्थितियों से फ़ायदा नहीं उठाया। जनसाधारण के असन्तोष से अनुचित लाभ उठाकर 'द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय' का विश्वासघाती सदस्य मुसोलिनी शक्ति के पीछे दौड़ने लगा और उसके नेतृत्व में फ़ासिस्तदल का अभ्युदय हुआ। एक वाक्य में फ़ासिज़्म का अर्थ है—'पूँजीवादी समाज का नंगा अधिनायकतन्त्र'। जनतन्त्र का वह घोर विरोधी है और उससे घृणा करता है। इसके बाद आगे चलकर जर्मनी तथा स्पेन में भी शक्ति फ़ासिस्तों के हाथ मे आ गई और पश्चिमी योरप की बागडोर आज वास्तव में फ़ासिस्तों के ही हाथ में है।

इस युग की तीसरी प्रधान घटना है पूर्वी राष्ट्रों की नव जागृति और राष्ट्रचेतना। पूर्वी राष्ट्रों में दो दल किये जा सकते हैं। एक तो पतनोन्मुख और नाममात्र के स्वतन्त्र राष्ट्र तथा दूसरे साम्राज्यवादी शक्तियों के

उपनिवेश, गुलाम राष्ट्र। एशिया और उत्तरी अफ़्रीक़ा के सभी देशों में स्वातन्त्र्य चेतना ने उद्धत रूप ग्रहण कर लिया। सब जगह पश्चिमी साम्राज्य-वाद के खिलाफ़ आन्दोलन और विद्रोह हुए। उक्त देशों में से लगभग सबको सोवियट रूस की सहायता और नैतिक सहानुभूति प्राप्त हुई। इनमें अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण घटना है टर्की के नवजीवन की, जिसका अधिकांश श्रेय मुस्तफ़ा कमाल को प्राप्त है। कमाल ने न केवल देश को स्वतन्त्र ही किया; बल्कि उसे ऐसा आधुनिक रूप प्रदान किया कि १० साल पहले के यात्री को वहाँ जाकर यह पहचान सकना भी संभव न रह गया कि आया ख़लीफ़ा की टर्की यही है। उसने पर्दा और उसके साथ ही न जाने कितनी अन्य कुप्रथाओं का नाश किया। निस्सन्देह सोवियट रूस की नैतिक और क्रियात्मक सहायता टर्की के लिए बहुमूल्य साबित हुई। सोवियट रूस ने फ़ारस को भी ब्रिटेन के प्रभाव और अधिकार से मुक्त होने में बहुत सहायता पहुँचाई। वहाँ भी रज़ा ख़ाँ नामक एक शक्तिशाली आदमी पैदा हुआ जिसने प्राचीन फ़ारस में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन करके उसे एक आधुनिक राष्ट्र बना दिया। अमानुल्ला के नेतृत्व में अफ़ग़ानिस्तान ने भी अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, जो आगे चल कर साम्राज्यवादी कुचक्रों और षड्यन्त्रों के फलस्वरूप नष्ट हो गई। ख़ास अरब को छोड़कर शेष सारा अरबी-प्रदेश अभी तक साम्राज्यवाद की चक्की में पिस रहा है, उसकी एकता की माँग अभी भी पूरी नहीं हो पाई है। यद्यपि सुलतान इब्नसऊद के नेतृत्व में अरब का अधिकांश भाग स्वतन्त्र हो गया है; किन्तु वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अधिकार और प्रभाव-क्षेत्र के अभी भी भीतर ही है। फ़िलिस्तीन और ट्रांसजोर्डन के छोटे राष्ट्र अँगरेज़ों के अधिकार में हैं और सीरिया फ़्रांसीसियों के। पिछले दिनों सीरिया में भी एक ज़बरदस्त विद्रोह उठ खड़ा हुआ था जिसमें आंशिक सफलता भी मिली। मिस्र में भी लगातार विद्रोह हुए और ब्रिटिश शासन के विरुद्ध बहुत दिनों तक संघर्ष चला, जो आज भी जारी है। मिस्र यद्यपि स्वतन्त्र देश कहलाता है; किन्तु अँगरेज़ों के हाथ की कठपुतली एक सुलतान वहाँ का शासक है। उत्तरी अफ़्रीक़ा के सुदूर पश्चिम में अब्दुल करीम नामक एक महापुरुष के नेतृत्व में मोरक्को ने भी स्वतन्त्रता

के लिए शानदार लड़ाई लड़ी। उसे स्पेनिश लोगों को मार भगाने में सफलता भी मिल चुकी थी; किन्तु फ़्रांसीसी शक्तियों ने पहुँचकर उसे कुचल डाला।

इसके अतिरिक्त दो और महान् देशों की स्वातन्त्र्य-चेतना ने विद्रोहों, दंगों और आन्दोलनों का रूप ग्रहण किया। वे देश हैं चीन और भारत। चीन की सफलता का अर्थ है अपार-साधन-सम्पन्न, अनन्त-जन-धन-पूर्ण एक देश का प्रथम श्रेणी के शक्ति के रूप में उद्भव, जिसका परिणाम होगा संसार की शक्ति-तुला का बिलकुल दूसरी दिशा में झुक जाना। ठीक उसी तरह भारत की स्वाधीनता का अर्थ होगा एक महान् शक्तिशाली और सम्पन्न राष्ट्र की सृष्टि तथा ब्रिटेन के साम्राज्य का अन्त।

चीन में मंचू राजवंश के पतन के बाद अनेक उत्थान पतन हुए। योरपीय शक्तियों तथा साम्राज्यवादी जापान के षड्यन्त्रों और शोषणों का शिकार निरन्तर एक शताब्दी तक होते रहने के बाद डॉक्टर सनयात सेन द्वारा स्थापित कोमिंटांग के प्रयत्नों के फलस्वरूप १९१२ में वहाँ क्रान्ति हुई। चीन में भी प्रजातन्त्र की घोषणा हुई। किन्तु महायुद्ध के बाद ही चीन के कम्यूनिस्टों और कोमिटांग में झगड़े प्रारम्भ हो गये। फल यह हुआ कि चीन कमज़ोर होता गया और उसी क्रम से जापान भी अपना प्रभुत्व चीन में बढ़ाता गया। चीनी प्रजातन्त्र के इतिहास के इस दुःखद अध्याय का जनक था डॉक्टर सनयात सेन का उत्तराधिकारी जनरल चाँगकाई शेक, जिसे साम्राज्यवादी डाकुओं से लड़ने की अपेक्षा जनवर्ग का सच्चा नेतृत्व करनेवाले कम्यूनिस्टों से लड़ना अधिक प्रिय था, जिसे चीन की रक्षा की अपेक्षा सम्पत्ति-जीवी वर्ग की स्वार्थ-रक्षा अधिक अभीष्ट थी। लेकिन अब उसने अपनी भूल समझ ली है तथा आज चीनी कम्यूनिस्टों के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाकर वह जापानी ज़िगोशाही का सामना कर रहा है।

भारत में भी अँगरेज़ों के पैर जमने के थोड़े ही दिनों बाद, जिस समय योरप में जन-क्रान्ति की तीव्र धारा चल रही थी, एक असफल विद्रोह हुआ जिसे १८५७ ई० का स्वातन्त्र्य युद्ध कहते हैं। उसके बाद अँगरेज़ों का आधिपत्य यहाँ पूर्ण रूप से स्थापित हो गया। लगभग ५० वर्षों तक

एक आतंक का वायुमंडल बना रहा। किन्तु जब इधर संसार के अन्य क्षेत्रों में विराट् आन्दोलनों ने जन्म लिया तब भारत भी आन्दोलित हुए बिना नहीं रह सका। यहाँ भी राष्ट्रीयता ने सिर उठाया, क्योंकि युद्ध के दिनों में भारतीयों के बीच राष्ट्रपति विलसन के जो आदर्श वाक्य प्रचारित किये गये थे उनकी सत्यता भी शीघ्र ही प्रकट हो गई। युद्ध के शीघ्र ही बाद पंजाब के जलियांवालाबाग में एक भयंकर कत्लेआम का दृश्य देखने को मिला। हफ्तों मार्शल ला का राज्य रहा। महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग-आन्दोलन (१९२०--२२ तक) छिड़ा जो कुछ दिनों बाद बन्द हो गया। फिर शीघ्र ही सन् ३० में राष्ट्रीय महासभा ने पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा की और उसको प्राप्त करने के लिए सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। दमन का दौरदौरा प्रारम्भ हुआ। कुछ दिनों बाद जाकर यह आन्दोलन भी शिथिल हो गया। किसी न किसी रूप में आज भी भारतीय राष्ट्रीयता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद का यह संघर्ष चलता जा रहा है।

बर्मा में भूखे किसानों का एक भयंकर विद्रोह हुआ जिसे बड़ी निर्दयता से दबा दिया गया। ऐसी ही घटनायें जावा और डच इंडीज़ में भी हुईं; इस प्रकार निकटपूर्व से लेकर सुदूर पूर्व तक राष्ट्रीयता की लहर दौड़ रही है जिसके साथ-साथ हर देश की कम्यूनिस्ट पार्टियों का गहरा सहयोग है और है सोवियट रूस का नैतिक समर्थन।

ऐसा प्रतीत हुआ कि संयुक्त-राष्ट्र अमरीका युद्ध के भयंकर परिणामों से अछूता बच जायगा और वास्तव में १० साल तक वह आश्चर्यजनक ढंग से उन्नति भी करता गया। युद्धकाल में उसने ऋण देने के व्यवसाय से इँग्लैंड को हटाकर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। इस तरह अमरीका सारे संसार का साहु और सारा संसार उसका ऋणी बन गया। आर्थिक दृष्टि से सारे संसार पर उसका अधिकार स्थापित हो गया, किन्तु शीघ्र ही संकट भी आ उपस्थित हुआ। संसार के सभी राष्ट्रों को महायुद्ध ने दिवालिया बना दिया था। अमरीका का पावना अदा होने की कोई सूरत न रह गई थी। क़र्ज़दार राष्ट्रों ने तैयार माल की सूरत में क़र्ज़ अदा करने का प्रस्ताव किया, किन्तु अमरीका ने यह पसन्द

नहीं किया। शीघ्र ही एक और तरीका निकाला गया, अमरीका ने ऋणी राष्ट्रों को ऋण चुकाने के लिए और भी ऋण देना प्रारम्भ किया। साफ ही था कि इस तरह ऋण कभी भी अदा न हो सकेगा। इसके साथ ही एक दूसरा संकट—आन्तरिक संकट—अमरीका में उपस्थित हो गया। सोने और धन से भरे-पुरे अमरीका में बेकारों की एक भयंकर संख्या उपस्थित हो गई और व्यवसाय का चक्र ठप होगया। यह था एकाङ्गी पूँजीवादी व्यवसाय का कुपरिणाम। अन्त में राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने 'न्यू डील' * की नीति कार्यान्वित करके एक समन्वय उपस्थित करने की कोशिश की।

आज हम उससे भी भयंकर काल में रह रहे हैं, जहाँ फिर दुबारा एक भीषण महायुद्ध, योरप की भूमि में छिड़ा हुआ है। फिर नई व्यवस्था, नई सभ्यता और नई संस्कृति का नारा बुलन्द किया जा रहा है। परिणाम क्या होगा? समझदारों के लिए इस प्रश्न का उत्तर प्रत्यक्ष होते हुए भी अन्तिम उत्तर के लिए हमें भविष्य की प्रतीक्षा करनी होगी।

---

*'न्यू डील' द्वारा अमरीका की सरकार ने देश के व्यावसायिक क्षेत्र में अग्रणी भाग लेना शुरू किया। इसके पहले अमरीका में व्यावसायिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप घृणित समझा जाता था। सरकार ने 'पब्लिक वर्क्स' के द्वारा देश की आर्थिक स्थिति सुधारने की कोशिश की, जिसमें अधिकाधिक लोगों को सस्ता ऋण देकर देश की 'क्रय-शक्ति' (Purchasing power) बढ़ाने की व्यवस्था थी। 'हाउसिंग-क़ानून' बनाकर बड़े पैमाने पर जनता की ज़मानत पर गृहनिर्माण की नीति भी चलाई गई। 'रेफ़िको' नामक बैङ्किङ्ग संस्था ने सरकार की इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए बहुत-सा ऋण दिया। इस नीति के अनुसार बेकारों को काम देने के लिए शतशः नई संस्थायें खोली गईं और हज़ारों नये काम शुरू किये गये।